अद्वैत वेदान्त
एवं
कश्मीर शैव अद्वैतवाद

डॉ० विश्वम्भर द्विवेदी

अद्वैत वेदान्त

एवं

कश्मीर शैव अद्वैतवाद

परम् पूज्य गुरूवर
प्रोफेसर सभाजीत मिश्र
को
सादर समर्पित

विश्वम्भर द्विवेदी

अद्वैत वेदान्त

एवं

कश्मीर शैव अद्वैतवाद

विश्वम्भर द्विवेदी

सत्यम् पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली 110059

ISBN 81 - 88134 - 07 - 4

प्रथम संस्करण - 2005

मूल्य : रु. 300/-

प्रकाशक

आर.डी. पाण्डेय
सत्यम् पब्लिशिंग हाउस
N-3/25ए मोहन गार्डन, उत्तम नगर
नई दिल्ली- 110059.
फोन - 011-25358642 फैक्स- 24911287

लेजर टाईपसेटिंग

एस. एन. प्रिंटोग्राफिक्स
G-49, गली न. 20, राजा पुरी,
उत्तम नगर, नई दिल्ली-110059.

मुद्रक
इम्पैक्ट एडवरटाइजिंग एण्ड प्रिटिंग
C-4, महेन्द्रा पार्क, नई दिल्ली- 110059.

Adait Vedant Avam Kasmir Shao Adaitvad
by wishwambhar Diwedi
Rs. 300/-

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

भारतीय दार्शनिक परम्परा में अद्वैतवाद अथवा अद्वयवाद का प्रतिपादन करने वाली अनेक विचारधारायें हैं। नास्तिक तथा आस्तिक दोनों परम्पराओं में अद्वैतवाद की स्थापना की गयी है। नास्तिक परम्परा के अंतर्गत योगाचार विज्ञानवाद तथा माध्यमिक शून्यवाद अद्वयवादी दर्शन हैं। प्रथम के अनुसार विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है तथा विज्ञानों की ही वस्तुओं के रूप में प्रतीति होती है। द्वितीय के अनुसार शून्य ही तत्व है तथा शून्य के अज्ञान के नाते जगत् प्रपञ्च की प्रतिति होती है। शैव अद्वैतवाद की गणना भी अवैदिक परंपरा के अंतर्गत की जाती है। यद्यपि कुछ विद्वान इसे वैदिक परम्परा के अंतर्गत भी कई मतमतान्तर हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में कश्मीर शैव दर्शन के अद्वैतवाद पर ही विशेष रूप से विचार किया गया है। इस दर्शन के अनुसार शिव ही परमतत्व है तंथा यह जगत् शिव का स्पन्द है। वैदिक परंपरा के अन्तर्गत शंकराचार्य के अद्वैतवाद के अतिरिक्त विभिन्न वैष्णव संप्रदायों के अद्वैतवाद तथा शब्द ब्रह्मवाद की गणना की जाती है।

हमारे विवेचन का विषय शंकराचार्य के अद्वैतवाद तथा शैव अद्वैतवाद का एक तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक अध्ययन है। भूमिका के अतिरिक्त इसमें पांच अध्याय हैं। भूमिका में दोनों दर्शनों के प्रमुख तुलनीय बिंदुओं का उल्लेख करके यह स्थापित किया गया है कि ये दोनों ही अद्वैतवाद की उत्कृष्ट विचार-धारायें हैं और उनके तुलनात्मक अध्ययन से अद्वैतवाद की कई गलतियों का समाधान हो जाता है। प्रथम अध्याय में अद्वैतवेदान्त की तत्वमीमांसा का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसमें विशेष रूप से ब्रह्म तथा जीव के स्वरूप तथा जीव एवं ब्रह्म के परस्पर अभेद का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त माया तथा जगत् के स्वरूप की भी व्याख्या की गयी है। दूसरे अध्याय में मोक्ष की अवधारणा का विस्तृत विवेचन किया गया है तथा यह प्रदर्शित किया गया है कि मिथ्या ज्ञान के नाते ही जीव बंधन में होता है और उसी मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति ही मोक्ष है। मिथ्या ज्ञान का निरास स्वयं कोई अलग से सत्य नहीं है। अपने निरास के साथ मिथ्या ज्ञान के निरास का भी निरास हो जाता है। इसी प्रसंग में ज्ञान एवं कर्म के भेद का भी विवेचन किया गया है और यह दिखाया गया है कि ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है।

तीसरे अध्याय में कश्मीर शैव-दर्शन की तत्वमीमांसा के प्रमुख बिंदुओं पर विचार किया गया है। इसके अंतर्गत शिव तथा शक्ति के स्वरूप तथा उसके परस्पर सम्बन्ध का विवेचन किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि यद्यपि शिव का स्पंद होने के नाते जगत् उस तरह मिथ्या नहीं है जिस तरह कि अद्वैत वेदांत

में जगत् को मिथ्या बताया गया है और यद्यपि शिव शक्ति के द्वारा क्रिया करते हैं तथापि इस दर्शन का अभीष्ट अद्वैतवाद ही है। चौथे अध्याय में कश्मीर शैवदर्शन के अनुसार मोक्ष के स्वरूप तथा साधन का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अंतिम अध्याय में दोनों दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और यह दिखाया गया है कि उनमें समानता तथा असमानता के बिंदू क्या हैं? हमारा मत है कि दोनों ही अद्वैतवाद के उत्कृष्ट उदाहरण है और दोनों ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं। दोनों में से रुचि और अधिकार के अनुसार किसी का चुनाव करकें व्यक्ति अपने मोक्ष के लिए प्रयत्न् कर सकता है।

ग्रंथ के लेखन में जिनके आशीर्वाद और सहयोग के लिए आभारी हूं उनमें सर्वप्रथम अपने निर्देशक परम्पूज्यनीय गुरुवर प्रो. सभाजीत मिश्र का विशेष रूप से सहृदय कृतज्ञ हूं, जिन्होंने न केवल गुरू की तरह बल्कि पिता की तरह स्नेह देतें हुए मेरा मनोबल बढ़ाते रहे, जिससे यह कार्य संभव हो सका। साथ ही परम् आदरणीय श्रीमती कलावती मिश्र पत्नी पूज्यनीय प्रो. सभाजीत मिश्र के प्रति स्नेह पूर्वक कृतज्ञता शामिल करता हूं, जिन्होंने ममतामय स्नेह देकर मेरे इस कार्य की अवधि में मेरा उत्साह वर्धन किया है।

उच्च शिक्षा के लिए प्रेरणा प्रदान करने वाले अपने बाबाजी परम् पूज्यनीय स्व. श्रीराम नीधि द्विवेदी को श्रद्धांजली अर्पित करते हुए अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं।

इस ग्रंथ लेखन में अनेक समस्याओं के समाधान हेतु सदैव तत्पर माता पिता श्रीमती सूर्या द्विवेदी और श्री बेचू द्विवेदी तथा चाचा-चाची श्री पं. आचार्य धनश्याम द्विवेदी और श्रीमती माया द्विवेदी जिस त्याग एवं धैर्य के साथ मुझे सहयोग करते रहे हैं ऐसे महान माता-पिता तथा चाचा-चाची को किन शब्दों में कृतज्ञता ज्ञापित करूं? जीवन भर नतमस्तक रहकर उनकी सेवा करना ही अपनी कृतज्ञता समझता हूँ।

मेरे इस लेखन कार्य के दिनों में दर्शन विभाग के अन्य गुरूजनों का भी आशीर्वाद मिलता रहा है। इन सभी गुरूजनों को हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूं जिन्होंने अपनी प्रेरणाओं एवं परामर्श से इस ग्रंथ लेखन में सहयोग किया है।

विश्वविद्यालय परिवार के अन्य सदस्यों ने भी इस कार्य में सहयोग किया है जिनका नामोल्लेख कर पाना संभव नहीं है। अतः समस्त बड़ों के समक्ष नतमस्तक होते हुए एवं छोटों के सहयोग एवं प्यार का अनुभव करते हुए मैं उनका आभारी हूं।

इस ग्रंथ के पूर्ण होने में भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् ने जो जे. आर.एफ. के रूप में मेरा चयन कर आर्थिक एवं ग्रंथालय सहायता की उसके लिए मैं विशेष रूप से अभारी हूं। इस ग्रंथ के विभिन्न अध्यायों में प्रयुक्त संदर्भ ग्रंथों, लेखों एवं आभिलेखों के प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करता हूं, जिनका उचित स्थान पर उपयोग करके ही इस कार्य को मूर्तरूप दिया जा सका है। समय से इस ग्रंथ के पब्लिकेशन के लिए आदरणीय श्री आर.डी.पांडेय जी का सहृदय आभारी हूं, जिन्होंने इस ग्रंथ को छापने में पूरा सहयोग किया है।

विश्वम्भर द्विवेदी

भूमिका

अद्वैतवाद से तात्पर्य उस विचारधारा से है जो कि मात्र किसी एक तत्व की अन्तिमरूप से सत्य मानती है, तथा शेष अन्य को उससे उत्पन्न या उसका विकार अथवा उसका आभास मानती है। इस परिभाषा से वह भौतिकवादी दर्शन भी अद्वैतवादी कहा जा सकता है जो कि भौतिक तत्व को ही अंतिम सत् के रूप में स्वीकार करता है। भारतीय दर्शन मे अद्वैतवाद के संबंध में दो बातें विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं: प्रथम, परमतत्व, एक और आध्यात्मिक है, और दूसरे वह पारमार्थिक है। भारतीय दर्शन की वैदिक और अवैदिक दोनों परंपराओं में अद्वैतवाद का विभिन्न रूपों में प्रतिपादन किया गया है। संक्षेप में उनका विवरण निम्नलिखित है।

बौद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान की ही एकमात्र सत्ता है। वस्तु या व्यवहार जगत् विज्ञानरूप है। संपूर्ण जगत् को अनुभव के आधार पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है– ज्ञान और ज्ञेय। ज्ञेय वस्तु है जिसका नाम होता है। यह ज्ञेय जगत् भ्रम से हमारे ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है। यथार्थ में यह ज्ञेय हमारे ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञेय की स्वतंत्र सत्ता मिथ्या है। ज्ञान ही ज्ञेय रूप से प्रतीत होता है। यही विज्ञाप्ति मात्रता है। ज्ञान, विज्ञान, विज्ञाप्ति, चित्त, मन आदि सभी पर्यायवाची हैं। विज्ञानवाद के अनुसार केवल विज्ञप्तिमात्रता की ही सत्ता है। मात्र शब्द का प्रयोग वाह्यवस्तु के निषेध के लिए किया गया है। वाह्य वस्तु की सत्ता केवल भ्रम है। आचार्य वसुबंधु का कहना है कि जिस प्रकार पीलिया रोग के रोगी को सभी पदार्थ पीले दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार अविद्याग्रस्त मनुष्य को भी वाह्य वस्तुओं की सत्ता सत् प्रतीत होती है।

माध्यमिक दर्शन में शून्य ही एकमात्र तत्व है जिसकी बु;गिम्यता का निराकरण मध्यमकशास्त्र के अनेक स्थलों पर मिलता है। शून्य तो सत्य है न असत्, न सत् दोनों है और न इन दोनों से भिन्न है। वह बुद्धि की चतु कोटियों से परे एक विलक्षण तत्व है। इस दर्शन में शून्य को एकमात्र तत्व मानने का तात्पर्य यह है कि वस्तु का पारमार्थिक स्वरूप पूर्णतया बुद्धि से परे एवं अनिर्वचनीय है। जिस तत्व की हम शब्दों में किसी प्रकार भी व्याख्या नहीं कर सकते, उसको शून्य कहना उचित है। अतः शून्यवाद की दार्शनिक प्रतिपत्ति भाषात्मक है, अभावात्मक नहीं।

अब प्रश्न यह है कि यदि वस्तु सत्ता शून्य है, और संसार में न कोई कारण है, न कार्य है, न सुख है न दुःख है, न धर्म है, न अधर्म है, तो इस प्रकार की तत्व विवेचना की बुद्ध की शिक्षाओं से किस प्रकार संगति हो सकती है? नागार्जून इस

शंका का समाधान दो प्रकार की सत्ताओं का प्रतिपादन करते हैं– एक संवृत्ति सत्य और दूसरा परमार्थ सत्य। संवृत्ति सत्य के अंतर्गत सम्पूर्ण व्यवहारिक जगत का, जिसमें अभिधान-अभिधेय, ज्ञान-ज्ञेय आदि भेद को मान्यता है, समावेश किया गया है। चूंकि अज्ञान को व्यवहारिक जगत का कारण माना गया है अतएव संवृत्ति सत्य को अज्ञान रचित अथवा अज्ञान मात्र समुत्थापित सत्य भी कहते हैं। परमार्थ दृष्टि से वह संवृत्ति माया, स्वप्न और गंधर्व नगर के समान मिथ्या है। संवृत्ति सत्य की दूसरी विशेषता उसकी बुद्धिगम्यता है। सभी बुिगम्य पदार्थों का यह स्वाभाविक गुण है कि उसमें ज्ञान और ज्ञेय का भेद सदैव विद्यमान रहता है, और इसी कारण बुद्धिगम्य संपूर्ण जगत को संवृत्ति सत्य के अंतर्गत माना गया है। यह तथ्य संवृत्ति भी दो प्रकार की मानी गयी है– तथ्य संवृत्ति या लोक संवृत्ति तथा मिथ्या संवृत्ति। तथ्य संवृत्ति के अंतर्गत उन सभी वस्तुओं का समावेश माना जाता है, जिसकी उत्पत्ति किसी कारण से होती है, और जिसका ज्ञान सभी मनुष्यों को एक समान होता है जैसे- घर पर आदि। मिथ्या संवृत्ति का तात्पर्य उन घटनाओं से है, जो हेतु जन्य तो है, परंतु जिसकी प्रतीती लोकमान्य न हो कर केवल कुछ व्यक्तियों को ही होती है, जैसे- माया, मृग, तृष्णा आदि।

परमार्थ सत्य बुद्धि से परे, अवर्णनीय एवं निस्दवाद है। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय आदि का लोप हो जाता है। यह एक निर्विकल्प अवस्था है, जिसका कोई पूर्व कारण नहीं है जिसमें प्रपंच का कोई स्थान नहीं है। शांत एवं शिवरूप हैं वास्तव में परमार्थ सत्य निबार्ण रूप ही है। इसे माध्यमिक दर्शन में शून्यता, तथा, भूतकोटि, धर्म धातु आदि भिन्न-2 नामों से कहा गया है। इस अवस्था का ज्ञान अनुभूति से होता है, जो अद्वयज्ञान है।

कश्मीर शैव मत को त्रिकदर्शन कहते हैं, इसमें पति, पशु और पाश इन तीन तत्वों का वर्णन है। इसे स्पंद दर्शन भी कहा जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन की इसी का नाम है। कश्मीर शैवमत के दार्शनिक दृष्टि से 36 तत्वों को स्वीकार किया गया है। तत्वो की परिभाषा निम्न है। अपने कार्य और गुणों के समुह में या अपने समान गुण वाली वस्तु में समान रूप से जो व्यापक हो वह तत्व है। इनके तीन विभाग हैं– शिव तत्व विद्या तत्व और आत्म विद्या तत्व तीन हैं:- सदा शिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या। आत्म तत्व 31 है– माया कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरूष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन, पांच, ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच तन्मात तथा पांच महाभूत। उसमें 25 तत्व सांख्य एवं शेष 11 तत्व शैवमत के हैं। इनमें माया वही है जो शैव सिद्धांत में अशुद्ध माया है और कला, विद्या, राग, काल तथा नियति

वे ही है जो शैव सिद्धांत में माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त शेष पांच तत्व शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर तथा शुद्ध विद्या कश्मीर शैव मत के हैं।

शिव और शक्ति एक दूसरे से अभिन्न हैं। शिव के बिना शक्ति नहीं है, और शक्ति के बिना शिव नहीं है। शिव और शक्ति एक ही परमेश्वर के दो रूप हैं, शिव तत्व प्रकाश रूप है और शक्ति तत्व विमर्श रूप है। शिव अचेतन है। शिव में चेतनता शक्ति के कारण होती है। उसकी यह चेतना या आत्म ज्ञान विमर्श है।

शिवशक्ति तत्व में जो विमर्श होता है, उसका रूप है– "अह्मास्मि" ;मैं हूंद्ध वही तत्व जब यह विमर्श करता है कि मैं यह हूं– अहम् इदम् अस्मि, तव वह सदा शिव हो जाता है। फिर जब वही तत्व यह विमर्श करता है कि इदम्-इदम् अस्ति– यह यह है, तो वह ईश्वर हो जाता है। अंत में जब वही तत्व यह विमर्श करता है कि यादृश्यम् अहम् तादृश्यम् इदम् या यादृश्यम् इदम् तादृश्यम् अहम् अर्थात जैसा यह है वैसा मैं हूं, या जैसा मैं हूं वैसा यह है, तव उस तत्व को शु; विद्या कहते हैं।

यद्यपि कश्मीर शैवमत में 36 तत्व मानें जाते हैं तथापि यह अद्वैतवादी है। उसमें मुख्यतः एक अद्वितीय तत्व शिव शक्ति या परमेश्वर या परमशिव है। अन्य तत्व उसके विमर्श व्यापार से प्रकट होते है यह विमर्श व्यापार वैसे ही है, जैसे हेगल के निरपेक्ष सत् से समस्त पदार्थ उत्पन्न होता है। यह बिल्कुल हेगलवादी नहीं, क्योंकि हेगल निरपेक्ष सत् को ज्ञान प्रधान मानता है। कश्मीर शैव मत में निरपेक्ष सत् को ज्ञान और इच्छा दोनों से विशिष्ट माना जाता है। परमेश्वर की पांच शक्तियां हैं, जिनकों चित्त, आनंद इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया कहा जाता है। चित्त शक्ति प्रकाश रूप है, जिसमें परमशिव प्रकाश्य वस्तु के अभाव में भी प्रकाशित होते हैं। परमशिव की आनंद शक्ति स्वातंत्रय रूप है। अपने को स्वतंत्र समझना तथा सारी इच्छाओं को अविसात रूप से सम्पन्न करना इच्छा शक्ति है। ज्ञान आमर्श रूप है। आमर्श का अर्थ योग्यता है। इन पांच शक्तियों में परमशिव अपने को ही उपर जगत के रूप में व्यक्त करते हैं।

शंकराचार्य ने विवर्तवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि कारण और कार्य का सम्बंध अनन्यता का सम्बंध है। कार्य अपने कारण से अनन्य है। कार्य-कारण का वास्तविक परिणाम न हो कर केवल उसका विवर्त है। यह सारा जगत् ब्रह्म का विवर्त है और माया का परिणाम है। इस प्रकार माया स्वयं ब्रह्म का विर्वत है। विवर्तवाद परिणामवाद का ही तार्किक विकास है।

ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है— सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। जिस प्रकार हम रंग मंच के पात्र को अन्य दृष्टि से देख सकते हैं, उसी तरह हम ब्रह्म को भी जगत से भिन्न दृष्टि से देख सकते हैं जो परमार्थिक है। उस स्थिति में वह जगत के विशेषणों से परे यथार्थ स्वरूप वाला होता है, यही उसका निर्गुण निर्विशेष रूप होता है। शंकराचार्य इसी को परब्रह्म कहते है। इस यथार्थ स्वरूप तथा औपधिक रूप को समझने के लिए शंकराचार्य मायावी का उदाहरण देते हैं। जादूगर केवल उन्हीं लोगों की दृष्टि में अद्भूत है, जो उसकी माया से छल्ले जाते हैं। लेकिन जो उनकी चालाकी समझ लेते हैं। उसके नजर में वह जादू आश्चर्यजनक नही रहता है। उसी तरह जो जगत रूपी माया-जाल के भूलावे में आ जाते हैं, वे ईश्वर को मायावी या सृष्टिकर्त्ता के रूप में देखते हैं। लेकिन जो तत्वज्ञानी है वे समझते हैं कि यह संसार केवल धोखे की पट्टी है। न कोई वास्तविक सृष्टि है, न वास्तविक सृष्टिकर्त्ता।

जगत् जब तक भाषित होता है तब तक वह एक मात्र सत्ता ब्रह्म के ही आश्रित रहता है। जैसे रस्सी में आभाषित सांप उस रस्सी के अलावें और की नही रहता, परंतु जिस तरह उसी रस्सी में सर्पत्व की भ्रांति के कारण कोई विचार नहीं आता उसी तरह जगत के सुख-दुःख, पाप-पुण्य आदि विषयों से ब्रह्म प्रभावित नहीं रहता।

निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों अद्वैतवादी विचार धाराओं को वस्तुतः एक दूसरे का विरोधी नहीं समझना चाहिए। दोनों अद्वैतवाद का प्रतिपादन अपने-अपने तर्को के आधार पर करते है और दोनों का अंतिम प्रयोजन मनुष्य की युक्ति है जो कि उसे अपने ब्रह्म रूप या शिव रूप का बोध होने पर होती है। कश्मीर शैव मत के अनुसार यह स्वरूप रोध प्रत्यभिज्ञा है। जब जीव को अपने स्वरूप का वोध हो जाता है तव वह शेष जगत प्रपंच से अपने को पृथक कर लेता है, अद्वैत वेदांत के अनुसार अनात्म से अपने को असंव; करके ;क्योंकि अनात्म असत् हैद्ध जीव अपने ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार करता है। अतएव ये दोनों विचार धारायें अद्वैतवाद को दो उत्कृष्ट विचार धारायें हैं। तार्किक दृष्टि से उनमें मतभेदों तथा त्रुटियों का प्रदर्शन किया जा सकता है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से किसका उद्देश्य तार्किक श्रेष्ठता स्थापित करता नहीं है। दोनों आध्यात्म के दो मार्ग हैं और दोनों ही मनुष्य के लिए कल्याणकारी हैं। रूचि और अधिकार के अनुसार मनुष्य इनमें से किसी का चुनाव करके आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त हो सकता है।

विश्वम्भर द्विवेदी—

प्रथम अध्याय

अद्वैत वेदान्त की तत्वमीमांसा का संक्षिप्त विवेचन

वस्तुवादी दर्शनों-चार्वाक, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध आदि के अनुसार वस्तुओं की सत्ता वस्तुओं के ज्ञान से स्वतंत्र है। ये सारे वस्तुवादी यह मानते हैं कि तत्व की दृष्टि से वस्तुओं की व्याख्या के लिये या वस्तु के कारण को निर्धारित करने के लिये किसी चेतन सत्ता सापेक्ष हुये बिना ही इस जगत की सृष्टि कर सकता है। न्याय-वैशेषिक सृष्टि की व्याख्या परमाणुओं से करते हैं और परमाणु चेतन-स्वतंत्र तथा नित्य होते हैं। सांख्य योग के अनुसार प्रकृति एक स्वतंत्र सत्ता है तथा उसी से सृष्टि का अविर्भाव तथा उसी में सृष्टि का तिरोभाव होता है। वस्तुवादी बौ; भी परमाणुओं के समुदाय से सृष्टि की व्याख्या करते हैं। विज्ञानवादी यह मानते है कि विषयी और विषय का जो द्वैत दिखायी देता है उसमें चेतना तो वास्तविक हैं, लेकिन वस्तु या विषय के द्वैत में न तो विषय और न ही विषयी वास्तविक है। विषयी और विषय दोनों ही विक्षेप हैं। तत्व शून्यता है जो विषयी और विषय के रूप में प्रतीत होता है। विज्ञानवादी यह कहते हैं कि विषयी के रूप में विज्ञान प्रवाह पर ही विषय आरोपित है। शून्यवाद के अनुसार जो अद्वय शून्य है, उस पर यह विषय टिका हुआ है। शंकराचार्य इन दोनों मतों का खण्डन करते हैं। वस्तुवादी सिद्धान्त शंकराचार्य को इसलिये स्वीकार नहीं है कि जगत न तो स्वतंत्र रूप में वास्तविक है और न ही अचेतन से उत्पन्न है। जगत् को अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य भी नहीं रह सकता है। जगत् में जो चेतना या ब्रह्म है उसके बिना जगत् असम्भव है। यह सृष्टि बह्म से अनन्य है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद का जो समन्वयात्मक रूप ग्रहण किया गया है उससे अद्वैत वेदान्त के विलक्षणता का परिचय मिलता है।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद के तीन प्रस्थान हैं : श्रुति (उपनिषद्), स्मृति (गीता) तथा तर्क (ब्रह्मसूत्र)। इन तीनों पर भाष्य लिखकर शंकराचार्य ने यह प्रतिपादित किया है कि उपपिषदों, गीता तथा ब्रहमसूत्र का एक मात्र प्रयोजन अद्वैत ब्रह्म की स्थापना करना है। माया, जीव, जगत् आदि का विवेचन भी इसी अभिप्राय से किया गया है कि अद्वैत ब्रह्म की स्थापना हो सके। इन तीनों प्रस्थानों में ब्रह्म के स्वरूप के संबंध में कोई मतभेद नहीं है केवल प्रणाली का भेद हो सकता है। वस्तुतः ब्रहमसूत्र भाष्य के ब्रह्म का विवेचन करते समय शंकराचार्य बार-बार श्रुतियों तथा स्मृतियों को उल्लेख करते हैं। तीनों प्रस्थानों में ब्रह्म विवेचन में पुनरावृत्ति भी है तथापि पुनरावृत्ति का भय होते हुये भी विस्तार की अपेक्षा से हम तीनों प्रस्थानों के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन अलगं-अलग करेंगे। ये अलग-अलग विवेचन अन्ततः एक ही तथ्य की पुष्टि करते हैं।

ब्रह्म का स्वरूप :- चतुःसूत्री में प्रथम सूत्र से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जिज्ञासा करने योग्य ब्रह्म का लक्षण क्या है। दूसरे सूत्र में ब्रह्म का लक्षण दिया गया है जन्माद्यस्यपतः अर्थात जगत् के जन्म आदि जिससे होते हैं वह ब्रह्म है। जिसके आदि में जन्म है वे जन्मदि हैं। इस सम्पूर्ण पद का अर्थ है जन्म, स्थिति और नाश। श्रुति निर्देश और वस्तु स्थिति की अपेक्षा से जन्म का पहले उपपादान किया गया है। श्रुति निर्देश है— यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। इस वाक्य में जन्म, स्थिति और लय का क्रमशः दर्शन होता है। वस्तु स्थिति भी ऐसी ही है, क्योंकि जन्म से सत्ता को प्राप्त हुये धर्मों, की स्थिति और फिर उनका लय होता है। इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से संवेदित धर्मी जगत् आदि का यतः (जिससे) कारण का निर्देश हैं। जगत् कैसा है? वह नामरूप में प्रकट है। वह अनेक कर्ता-भोक्ता से संयुक्त है। उसमें क्रिया और फल का निश्चित सम्बन्ध है। वह देशकाल और निमित्त से नियमित या व्यवस्थित है। उसके आश्रय आधार की रचना के स्वरूप का विचार मन से भी नहीं हो सकता है। ऐसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारण से होता है वह ब्रह्म है। अन्य भाव विकारों का भी इन तीनों में ही अन्तर्भाव है। श्रुति में जिस ब्रह्म से इस जगत् की जो उत्पत्ति, उसी में जो स्थिति और उसी में जो लय कहे गये हैं, वे ही जन्म, स्थिति और लय यहां ग्रहण किये गये हैं।

उपर्युक्त सूत्र में ब्रह्म को जन्मादि का कारण माना गया है। यह न तो अनुमान का सूचक है और न ही किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध किया गया है बल्कि यह श्रुति का कथन है। अनुमान में व्याप्ति दो दृष्ट वस्तुओं में होता हैं। ईश्वर को अनुमान से सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके सम्बन्ध में व्याप्ति की

स्थापना नहीं की जा सकती। यहाँ पर दृष्ट जगत् एक कार्य है लेकिन उसका कारण ईश्वर इन्द्रिय गोचर नहीं है। अतः उपरोक्त कथन एक श्रुति वाक्य है जो अनुमान नहीं है। यहां यह प्रश्न उठता है कि इस कथन का प्रमाण क्या है? क्या इसे इसलिये स्वीकार कर लिया जाय कि श्रुति के प्रति हमारी आस्था है? या कोई तर्कसंगत आधार भी है? शंकराचार्य कहते हैं कि इस कथन का तर्क से कोई विरोध नहीं हैं और इस कथन की सत्यता का एक अतिरिक्त आधार यह भी है कि यह अनुभव सिद्ध कथन है। इसका अर्थ यह है कि जो श्रुति के वाक्य हैं वे तर्क के द्वारा भी समर्थित हैं इसलिये शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म के सम्बन्ध में तर्क या अनुमान से कुछ नहीं जाना जा सकता, परन्तु इसका श्रुति के सहायक के रूप में प्रयोग किया जा सकता हैं। जो अनुमान श्रुतिका समर्थन करता है वह सार्थक है लेकिन जो विरोध करता है वह शुष्क होता है। यह समष्टि रूप जगत् जो सम्पूर्णता में एक कार्य है उसका कोई कारण होना चाहिये। इस कारण का निर्धारण तर्क या अनुमान से नहीं हो सकता बल्कि श्रुति उसका निर्धारण करती है। इन श्रुति कथनों का जो सत्य अनुभव हमारे ऋषियों ने किया वह श्रुति कारण ब्रह्म हैं। ब्रह्म के सिवा अन्य से - अचेतन प्रधान से, अचेतन परमाणुओं से, अभाव शून्य से या स्वभाव से भी जगत् की उत्पत्ति की सम्भावना नहीं की जा सकती। इसी प्रकार स्वभाव से भी जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती क्योंकि यहां कार्यार्थी पुरूषों द्वारा विशेष देश, काल और निमित्त का प्रयोग किया जाता है। सूत्रों में वेदान्त वाक्यो का उदाहरण देकर उनका विचार किया गया है। वाक्यार्थ-विचार से जो तात्पर्य निश्चय होता है, उससे ब्रह्म ज्ञान निष्पन्न होता है, जबकि अनुमान आदि प्रमाण से यह निश्चय नहीं होता। जन्मादि का निर्देश करने वाले वेदान्त-वाक्यों के रहने पर उनके अर्थ को सबल बनाने के लिये वेदान्त वाक्यों से अनुमत अनुमान भी प्रमाण हो, तो उसका निवारण नहीं किया जाता, क्योकि श्रुति ने ही सहायता के लिये तर्क को भी अंगीकार किया है। जैसे ब्रह्म श्रवण करने योग्य है, मनन करने योग्य है[2] यह श्रुति है और जैसे पण्डित और मेधावी गान्धार देश पहुंच जाता है, उसी प्रकार आचार्यवान् पुरूष ज्ञान प्राप्त करता है।[3] यह श्रुति भी अपने प्रति प्ररूष की बुद्धि को सहायक बतलाती है।

जगत की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मतों जैसे चार्वाक के स्वभाववाद नैयायिकों के परमाणुवाद, सांख्य का प्रकृति परिणामवाद, विज्ञान वादियों का क्षणिक विज्ञानवाद तथा शून्यवादियों के शून्यवाद में असंगति सिद्ध करते हुये शंकराचार्य ने कहा है कि कोई भी यह नहीं समझा पाता है कि जगत् की उत्पत्ति कैसे सम्भव होती है। इसलिए चेतन ब्रह्म से ही इस जग् की सृष्टि हो सकती है। यह जगत विवर्तमात्र या प्रतीति मात्र है, क्योंकि ब्रह्म किसी भी अवस्था में कार्य के रूप में

परिणत नहीं हो सकता। इस जगत् की एक तर्कसम्मत व्याख्या यही हो सकती है कि जगत् का कारण ब्रह्म ही है, अन्य कुछ जगत् का कारण नहीं हो सकता। यह भी अन्ततः अज्ञान के अन्तर्गत ही है, वास्तविक ज्ञान के पश्चात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति या विनाश का कोई अर्थ नहीं है।

जगत्कारण के रूप में ब्रह्म की सर्वज्ञता को और दृढ़ करते हुये कहा गया है:- अनेक विद्या स्थानों से उपकृत, प्रदीप के समान सब अर्थो के प्रकाशन में समर्थ और सर्वज्ञ-कल्प महान् ऋग्वेद आदि शास्त्र का कारण ब्रहम है। ऋग्वेद आदि सर्वज्ञ सर्वगुण सम्पन्न शास्त्र की उत्पत्ति सर्वज्ञ को छोड़कर दूसरे से नहीं हो सकती हैं। अनेक शाखा-भेद से भिन्न, देव, पशु, मनुष्य, वर्ण, आश्रय आदि विभाग का हेतु, सर्वज्ञान का आकार, ऋग्वेद आदि संज्ञक शास्त्र का अनायास उद्‌भव लीला-न्याय से पुरूष निःस्वास के समान जिस महान सत्य कारण से सम्भव है, उस महान सत्य कारण के निरतिशय सर्वज्ञत्व सर्वशक्तियत्व के बारे में (संदेह नहीं हो सकता) इस महान् भूत का जो विश्वास है वह ऋग्वेद है।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के स्वरूप की जो विवेचना की गयी है, उसे स्पष्ट रूप देने के लिये ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, गीताभाष्य एवं उपनिषद् भाष्यों को एक साथ देखा जाना उचित होगा। इसलिये हम इन तीनों भाष्यों का अनुसरण करते हुये संक्षेप में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करेंगे।

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप का विवेचनः- अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का जो स्वरूप देखने को मिलता है वह उपनिषदों के विकास के परिणाम स्वरूप ही प्राप्त होता है। वैदिक आध्यात्मिक भाव राशि का उपनिषदों में पूर्ण विकास हुआ है। अद्वैतवाद के सिद्धान्त का मूल आधार है संहिता तथा ब्राह्मण। यह परा विद्या है। यह गम्भीर और गूढ़ आध्यात्मिक भव क्रम विकास के पथ पर पुष्पित और पल्लवित होकर किस प्रकार ब्रह्म विद्या का आकार रूपेण सिद्धि लाभ किया था इसका परिचय हमें आरण्यक और उपनिषद् में मिलता है। आरण्यक ब्राह्मण का ही शेष अंश तथा उसका दार्शनिक विश्लेषण है। पुनः उपनिषद् आरण्यक का शेष अंश है इसलिये उपनिषद् को वेदान्त नाम से भी जाना जाता है। वेद में वर्णित तत्व ज्ञान का सम्भार ही उपनिषद् का उपकरण हैं। वेद और उपनिषद् दोनों मे ही एक ही तत्व विद्या निहित है। ब्रह्म के स्वरूप वर्णन में द्वान्दोग्य के 6/11 श्लोक में कहा गया है कि अद्वितीय ज्योतिः स्वरूप परमात्मा सर्व प्राणियों में प्रच्छन्न रूप से अवस्थित है, वे हैं सर्वव्यापी, सभी प्राणियों के अन्तरात्मा, सभी कार्यो के नियामक, समस्त सूत्रों के अधिष्ठान, सर्वसाक्षी, चैतन्य अभिव्यक्ति के कारण निरूपाधिक और निर्गुण।

उपनिषद् के ऋषियों ने देखा कि विश्व के समस्त कार्यों में एक कार्य-कारण श्रृंखला, एक अलङ्य प्राकृतिक नियम या कृत विद्यमान है। इसी कृत या सत्य को वेद में बाह्य और आन्तर प्रकृति का नाभिमूल कहा गया है। बाह्य धटनाओं के मौलिक सत्य के अनुशीलन द्वारा उन्होंने क्रिया के स्वरूप या कर्म नीति को ज्ञात किया और अन्तः प्रकृति की सत्य उपलब्धि करके एक सर्वान्तर्यामी परमेश्वर का अनुभव किया। इसीलिये वेद में अनेक देवताओं में एक ही देवता का वर्णन परिलक्षित होता है। जो विभिन्न देवताओं के पर्याय में विभक्त होकर निखिल देव समूह रूप में एक विराट देवता का रूप धारण किये हैं।

वैदिक ऋषियों ने देवताओं के दो देह का दर्शन किया था– सूक्ष्म और स्थूल, अव्यक्त और व्यक्त, जैसे इन्द्र की स्तुति में कहा गया है– तुम सूक्ष्म और स्थूल शरीर धारण करते हो। अग्नि देवता के स्तुति में भी इस सूक्ष्म और स्थूल शरीर का वर्णन है। इस सूक्ष्म रूप को तत्वज्ञान सम्पन्न मानव ही जान सकते हैं। एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि की सहायता से मेधावी गण उस पुरूष को प्रत्यक्ष करते हैं। पुरूष जीव मात्र में आवृत्त रहने के कारण आत्म रूप से प्रकाशित नहीं होते हैं। कठोपनिषेद में कहा गया है:-

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्व ग्रयया बुद्धया सूक्षमया सूक्ष्मदर्शिभिः।।[4]

यह परब्रह्म सबका अन्तर्यामी है, अतः सभी प्राणियों के हृदय में विराजमान है, परन्तु अपनीमाया से छिपे हुये हैं, इसी कारण उनके द्वारा ये जाने नहीं जा सकते। जिन्होंने ईश्वर का आश्रय लेकर अपनी बुद्धि को तीक्ष्ण बना लिया है, वे सूक्ष्मदर्शी ही परमात्मा की कृपा से सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन्हें देख पाते हैं। वैदिक देवताओं के वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक ऋषियों ने प्रत्येक देवता के मध्य उस परम देवता को ही अर्थ प्रदान किया है। यह सर्वमय देवता अदिति के नाम से जाना जाता है, यह अदिति ही परब्रह्म है। इसी को उपनिषद् में– सर्वदेवता रूपिणों, उत्पत्ति काल में ही भूत समूह समन्विता, हिरण्यगर्भ रूपेण अभिव्यक्त कहा गया है। इसका वर्णन कठोपनिषद् में इस प्रकार हैं–

या प्राणेन सम्यवत्यदिति देवतामयी।
गुहां प्रविष्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत।।[5]

परब्रह्म के संकल्प से जो अदिति देवी सबसे पहले जगत् की जीवनी शक्ति के साथ उत्पन्न होती है तथा समस्त प्राणियों को बीज रूप से अपने साथ लेकर प्रकट

हुई थी वह हृदयरूपी गुहा में प्रविष्ट होकर ही रहने वाली भगवती ईश्वर के अचिन्त्य महाशक्ति से सर्वाथा अभिन्न है। ईश्वर और उसकी शक्ति में कोई भेद नहीं है, ईश्वर ही शक्ति रूप से सबके हृदय में प्रवेश किये हुये हैं।

ऋग्वेद का जीवात्मवाद क्रमशः सर्वात्मवाद में सुसंगठित लाभ किया है। इससे यह प्रश्न उठता है कि– विश्व का सृष्टा कौन है? वह कौन है जो प्राणियों के शरीर में अशरीरी रूप में विद्यमान हैं, अनित्य वस्तु में नित्य रूप में विद्यमान हैं, उसका अविर्भाव कैसे हुआ? इस आन्तरिक जिज्ञासा का उत्तर कौन देगा? इसी प्रकार का प्रश्न प्रश्नोपनिषद् में कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबन्धी ने पिप्लाद् ऋषि से किया, जो इस प्रकार हैः- अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रथाः प्रजायन्त इति।।[6]

पिप्लाद् ऋषि की आज्ञा से ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये संयम पूर्वक एक वर्ष तक जीवन व्यतीत करने के बाद उन शिष्यों में से सर्वप्रथम कबन्धी ने विनय पूर्वक पूछा- भगवन् किससे यह सम्पूर्ण चराचर जीव नाना रूपों में उत्पन्न होता है, जो इनका सुनिश्चित परम कारण है, वह कौन है? यह प्रश्न सुनकर महर्षि पिप्लाद् बोले– हे कात्यायन। यह वेद प्रसिद्ध है कि परमेश्वर को सृष्टि के आदि में जब प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा हुई तब उन्होंने संकल्प रूप तप किया। तप से सर्वप्रथम उन्होंने रयि और प्राण - इन दोनों का एक जोड़ा उत्पन्न किया, जिसका उद्देश्य था कि ये दोनों मिलकर मेरे लिये नाना प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करेंगे। इसमें जो जीवनी शक्ति है, उसे ही "प्राण" नाम दिया गया है। इसी शक्ति से प्रकृति के स्थूल स्वरूप में - समस्त पदार्थों में जीवन, स्थिति और यथा योग्य सामञ्जस्य आता है एव स्थूल भूत - समुदाय का नाम रयि रखा गया है जो जीवनी शक्ति से अनुप्राणित होकर कार्यक्षम होता है। प्राण चेतना है, रयि शक्ति और आकृति है। इन दोनों के संयोग से ही सृष्टि का समस्त कार्य सम्पन्न होता है। इन्हीं को अन्य जगह अग्नि और सोम के नाम से कहा गया है।

इसी प्रकार केनोपनिषद् में प्रश्न देखा जाता है - किसके निर्देश से मन अपने अनुरूप विषय की ओर दौड़ते है? इन्द्रिय गणों में प्रधान यह प्राण, जिसके न होने पर इन्द्रियाँ क्रियाहीन हो जाती है, वह प्राण किसके आदेश पालन में प्रयत्नशील हैं? किसके संकेत मात्र से हम लोग उच्चारण करते है? इन प्रश्नों को केनोपनिषद् में निम्नलिखित रूप में कहा गया हैः–

उँ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथम प्रैतियुक्तः।
केनेषितां वाच मिमां वदन्ति यक्षुः श्रोतं क उ देवो युनक्ति।।

इस मंत्र में चार प्रश्न किये गये हैं। इनमें प्रकारान्तर से यह पूछा गया है कि जड़ रूप अन्तःकरण, प्राण, वाणी आदि कर्मेन्द्रिय और चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियों को अपना-अपना कार्य करने की योग्यता प्रदान करने वाला और उन्हें अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला जो कोई एक सर्वशक्तिमान् चेतन है, वह कौन है? और कैसा है? इसके उत्तर में कहते हैं :-

श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसोमनोय द्वाचो ह वाचः सउ प्राणस्य प्राणः।[8]
चक्षुषक्षक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लो कादमृता भवन्ति।।

इसमें गुरू शिष्य को स्पष्ट उत्तर न देकर, जो श्रोत का भी श्रोत हैं, आदि शब्दों के द्वारा संकेत से समझाते हैं कि जो इन मन, प्राण और संपूर्ण इन्द्रियों का समस्त जगत् का परम कारण है, जिससे ये सब उत्पन्न हुए हैं, जिसकी शक्ति को पाकर ये सब अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं और जो इन सबको जानने वाला है, वह परब्रह्म ही इन सबका प्रेरक है। उसे जानकर ज्ञानी लोग जीवन्मुक्त होकर इस लोक में प्रयाण करने के अनन्तर अमृत स्वरूप - विदेह मुक्त हो जाते हैं।

उपनिषद् के ऋषियों ने गम्भीर निष्ठा और साधना द्वारा उस सत्य की उपलब्धि की कि वह इन्द्रियजन्य नहीं अतिन्द्रिय ग्राहय है। जगदात्मा के साथ अभेद का दर्शन ही परमार्थ है। ऋषि कहते हैं कि जिसे तुम जानना चाहते हो उनको चक्षु द्वारा नहीं देख सकते, वाक्य भी उनको प्रकाशित नहीं कर सकता है, उनमें मन भी प्रवेश नहीं कर सकता है। वह प्रयाता और प्रमेय सीमा के परे है, लौकिक प्रमाणों से भी उनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। केवल इतना ही ज्ञात है कि सभी प्रकार के ज्ञान की वस्तु से वह भिन्न हैं। इन्द्रियाँ उनको प्रकाशित करने में असमर्थ हैं, वह उनके प्रकाशक हैं। अन्तःकरण उनको अनुसंधान नहीं कर सकते, वह ही उस अन्तःकरण को उद्भाषित करते हैं– वे ही ज्योतिर्मय पुरूष ब्रह्म हैं।

तपोवन के शान्त परिवेश में, सत्य द्रष्टा गुरू के समीप विशेष विनीत होकर उपसन्न, प्रशान्तचित्त, संयतेन्द्रिय जिज्ञासु शिष्य को प्राचीन काल में गुरू इस उपनिषद् परम् गुहय वेदान्त तत्व इस रहस्य या ब्रह्म विद्या का उपदेश करते थे, जिस विद्या को पाने पर परमार्थ स्वरूप अक्षर ब्रह्म को जाना जा सकता है। इसका वर्णन मुण्डक उपनिषद् में इस प्रकार हैः–

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमाचिताय[9]।
येनाक्षरं पुरूषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्म विद्याम्।।

उस ब्रह्मनिष्ठ महात्मा को चाहिये कि शरण में आये हुये ऐसे शिष्य को

जिसका चित्त पूर्णतया शान्त हो चुका हो, सांसारिक भोगों से वैराग्य के कारण जिसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता या विकार न रह गये हों, जो शमदमादि साधन सम्पन्न हो, उस ब्रह्म विद्या का तत्व विवेचन पूर्वक भली-भांति समझकर उपदेश करें, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर सके।

ब्रह्म का स्वरूपः- ब्रह्म-निर्गुण, निर्विशेष, अवाड् मनस गोचर अज्ञेय तथा अनिर्वचनीय- उपनिषद् में ब्रह्म स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है - बृहत्वम् - बृहत्वात् ब्रह्म। इस विराट पुरूष का वर्णन ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में किया गया हैं। इस विराट पुरूष के उद्देश्य से ही श्वेताश्वतर में कहा गया है - जिनके पाणिपाद सर्वत्र हैं, चक्षु, मस्तक तथा मुख भी सर्वत्र हैं, वह सबको व्याप्त कर स्थित है।

सर्वत्र पाणिपादंतत्सर्वतोक्षक्षिशिरोमुखम्।
सर्वत्रः श्रुतिमल्लोके सर्वामावृत्य तिष्ठति ।।[10]

अर्थात् उस परमात्मा के हाथ, पैर, आंख, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वे सब जगह सब शक्तियों से सब कार्य करने में समर्थ हैं। उन्होंने सभी जगह अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अपनी ओर खींचने के लिये हाथ बढ़ा रखा है। भक्त जहां चाहता है, वही उन्हें पहुंचा हुआ पाता है। वे सभी जीवों के कर्मों को सर्वत्र देख रहे हैं। उनके भक्त जहां प्रणाम करते हैं उनके चरण वहीं मौजूद रहते हैं। भक्तों की प्रार्थना सुनने के लिये उनके कान सर्वत्र हैं और भक्तों द्वारा अर्पण की हुई वस्तु का भोग लगाने के लिये मुख भी सर्वत्र विद्यमान हैं। वह परमेश्वर सबको सब ओर से इस ब्रह्माण्ड में धेर कर स्थित है। इन्हीं के स्वरूप के वर्णन में मुण्डक उपनिषद् में कहा गया हैः-

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्र सूर्यो दिशः श्रोते वाग् विवृताश्च वेदाः।[11]
वायुः प्राणों हृदयं विश्वमयस्य पद्भ्यांपृथिवीह्येष सर्वभूतांन्तरात्मा।।

अर्थात् उस विराट पुरूष का अग्नि मंस्तक, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र, दिशायें कर्ण हैं, प्रसिद्ध वेद वाणी, वायु प्राण, निखिल विश्व हृदय है (अर्थात् यह चराचर जगत उस पुरूष के अन्तःकरण का विकार है, क्योंकि उनकी सुषुप्ति में विश्व उनके मन में लीन होता है तथा जागरण में मन से ही निर्गत होता है) और उनके चरणों से पृथ्वी प्रकट हुई है, वह देव सम्पूर्ण भूतों का आत्मा है।

ब्रह्म के दो रूपः- यद्यपि ब्रह्म एक है, अद्वितीय है, किन्तु उपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप बताये गये है - निर्विशेष और सविशष। विशेषण या लक्षण निर्देश शून्य, परिचय वर्जित गुणान्वित न होने से वर्णनातीत ही निर्विशेष भाव हैं। यह

निर्विशेष भाव पर, आशब्द, निर्गुण निरूपाधि, निर्विकल्प इत्यादि संज्ञा द्वारा व्यक्त है। ब्रह्म का सर्विशेष भाव इसका विपरित है। यह भाव लक्षण से लक्षित चिन्ह से चिन्हित और विशेषण से विशिष्ट है। निर्गुण अवस्था में ब्रह्म प्रशान्त, अन्नत, वारिधि सदृश और सगुण अवस्था में सोपाधि, सविकल्प इत्यादि संज्ञा द्वारा निर्देशित लहरी सड्कुल विक्षुब्ध समुद्र के समान है।

आचार्य शंकर ने कहा है - सन्ति उभयलिंगाः श्रुत्यो ब्रह्म वियायांः।

'सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्थाः सर्वरस हत्येव माद्याः सविशेषलिड्गाः, अस्थुलम् अनणु, अदीर्धम्, हत्येवमाद्याश्च निर्विशेष लिंगाः। उपनिषद् में क्लीव लिड्ग द्वारा निर्विशेष और पुलिंग द्वारा सविशेष भाव का निर्देश किया गया है। आचार्य शंकर के मतानुसार समस्त विशेष रहित निर्विकल्प निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म ही उपनिषद् का प्रतिपाध विषय है।

निर्विशेष निर्गुण ब्रह्मः- अद्वैत वेदान्त का सबसे प्रधान सिद्धान्त यह है कि ब्रहम निर्विशेष और निर्गुण है। उपनिषद् में ब्रह्म के दो विभाग प्रदर्शित किये गये हैं। उनमें समस्त विशेष वर्जित, निर्विशेष ब्रह्म ही प्रतिपाद्य है, सगुण, सविशेष ब्रहम नहीं, क्योंकि उपनिषद् में जहां भी ब्रहम के स्वरूप का प्रतिपादन किया या है, वहां ब्रहम के सर्व प्रकार विशेष रहित होने का ही उपदेश है। अद्वैतवाद के सिद्धान्त के श्रुति सम्मत होने के प्रमाण उपनिषद् में पर्याप्त मिलते हैं। माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है - नान्तः प्रक्षंनबष्प्रिज्ञं नोभयतः प्रक्षंन धनंन प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।

अष्टमव्यवहार्यमग्राहयमूलक्षणमचिन्त्यव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं।
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यते स आत्मा स विज्ञेयः।।

इस मंत्र में निर्गुण - निराकर निर्विशेष स्वरूप को पूर्ण ब्रह्म परमात्मा का चौथा पाद बताया गया है। इसका भाव यह है कि जिसका ज्ञान न तो बाहर की ओर है, न भीतर की ओर है और न दोनों ही ओर है, जो न ज्ञान स्वरूप है न जानने वाला ही है, जो न देखने में आ सकता है, न व्यवहार में लाया जा सकता है, न ग्रहण करने में आ सकता है, न चिन्तन करने में, न बतलाने में, आ सकता है और न जिसका कोई लक्षण ही है, जिसमें समस्त प्रपञ्च का अभाव है, एक मात्र परमात्म सत्ता की प्रतीती ही जिसमें प्रमाण है - ऐसा सर्वथा, शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्व पूर्ण ब्रह्म का चौथा पाद माना जाता है। इस प्रकार के स्वरूप वर्णन से यह नहीं समझना चाहिये कि ब्रहम शून्य है, क्योंकि सर्वधर्म रहित होने पर भी सच्चिदानन्द स्वरूप ही है।

इसी प्रकार ब्रह्म को अनादि, अनन्त एवं ध्रुव के रूप में वर्णन करते हुये कठोपनिषद् में कहा गया है:-

अशब्दमस्पर्शमरूपव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।[14]
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्यु मुखात् प्रमुच्यते ।।

इस मंत्र में परब्रह्म को रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द से रहित बताकर यह दिखाया गया है कि सांसारिक विषयों को ग्रहण करने वाली इन्द्रियों की वहां पहुंच नहीं है। वे नित्य, अविनाशी अनादि और असीम है। जीवात्मा से भी श्रेष्ठ और सर्वथा सत्य हैं। उन्हें जानकर मनुष्य सर्वथा के लिये मुक्त हो जाता हैं।

इसी प्रकार केनोपनिषद् में मन द्वारा मनन न करने योग्य ब्रहम के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहते है :-

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतम् ।[15]
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि यदिदमुपासते ।।

बुद्धि और मन का जो विषय है और जो इसके जानने में आ सकता है और न जाने हुये जिस तत्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। ब्रह्म मन और बुद्धि से सर्वथा अतीत है। इसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिसकी शक्ति से किसी अंश में बुद्धि में निश्चय करने की और मन में मनन करने की सामर्थ्य आयी है, वह ब्रह्म है। तेत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्म के लक्षण का वर्णन करते हुये कहा गया है :-

यतोवचो निवर्तन्ते। अप्राप्त मनसासह। आनन्दं ब्राह्मणों विद्वान्।
न विभेति कदाचने। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य।[16]

इस मंत्र में ब्रह्म के आनन्द को जानने वाले विद्वान की महिमा के साथ उसे मनोमय शरीर की महिमा प्रकट की गयी है। इसका भाव यह है कि वह ब्रह्म जो परम आनन्द स्वरूप है, वहां तक मन, वाणी आदि समस्त इन्द्रियों के समुदाय रूप मनोमय शरीर की भी पहुंच नहीं है, परन्तु ब्रह्म को प्राप्त करने के लिये साधक को यह ब्रह्म के पास पहुंचाने में विशेष सहायक हैं। यह मन, वाणी आदि साधन युक्त पुरूष को उस परब्रह्म के द्वार तक पहुंचाकर, उसे वहीं छोड़कर स्वयं लौट आते हैं और वह साधक उनको प्राप्त हो जाता हैं। इस प्रकार से साधक के लिये ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप का वर्णन किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म को त्रिकालातीत के रूप में वर्णन करते हुये कहा गया है:-

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।[17]
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम्।।

समस्त जगत् के आदि कारण सर्वशक्तिमान परमेश्वर तीनों कालों से सर्वथा अतीत हैं। उनमें काल का कोई भेद नहीं है। वे संसार से सर्वथा रहित होते हुये भी प्रकृति के साथ जीव का संयोग कराने वाले कारण के भी कारण हैं। वह परमेश्वर ही एक मात्र स्तुति करने योग्य हैं। वे हमारे हृदय में ही स्थित हैं, ऐसा विश्वास करके, सभी रूपों को धारण करने वाले, सर्वाधार एवं सर्वशक्तिमान ब्रह्म को प्राप्त करना चाहिये।

इसी ब्रह्म का वर्णन करते हुये कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह ज्ञान का विषय नहीं हो सकता जिसके आलोक मात्र से समस्त वस्तुयें दिव्यमान हैं-

न तत्र सूर्यो, भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।[18]
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्व मिदं विभाति।।

अर्थात् उस ब्रह्म के समीप यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता। इस सूर्य का तेज भी उस असीम के सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्रमा, तारागण और बिजली भी वहां नहीं चमकते। इस जगत में जो कुछ भी तत्व प्रकाशशील हैं, सब उस ब्रह्म की प्रकाश शक्ति के अंश को प्राप्त करके ही प्रकाशित हैं। इसका तात्पर्य यह है कि यह सम्पूर्ण जगत् उस जगदात्मा परब्रह्म के प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। निर्विशेष, निर्गुण ब्रह्म विषयक औपनिषद् का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म सर्व प्रकार ज्ञात ओर अज्ञात पदार्थ से परे, अवाङ्गमनसगोचर अनिर्वचनीय और अज्ञेय है। अतः निष्कल, निष्क्रिय, नित्य और निरञ्जन है। इसी कारण वह नेति-नेति द्वारा ही प्रकाश्य हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के भाष्य में आचार्य शंकर ने लिखा है:-

अणोरणीयान् महतो महीयानात्म गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।[19]
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्।।

ब्रह्म का वर्णन करते हुये कहते हैं कि वे सूक्ष्म से भी अति सूक्ष्म और बड़े से भी बहुत बड़े पर ब्रह्म इस जीव की हृदय रूप गुपफा में छिपे हुये हैं। सबकी रचना करने वाले उस परमेश्वर की कृपा से ही मनुष्य उन स्वार्थ से रहित अकारण कृपा करने वाले परम सुहृद परमेश्वर को और उनकी महिमा को जान सकता है। जब वह परमेश्वर का साक्षात् कर लेता हैं, तब सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से रहित उस आनन्द स्वरूप पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इसी उपनिषद् में अध्याय एक के सातवें श्लोक में ब्रह्म का वर्णन करते हुये शंकराचार्य ने लिखा है:-

उद्गीतमेतत परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सु प्रतिष्ठाक्षरं च।[20]
अन्नान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः।।

जिनकी महिमा को वेदों में गान किया गया है, जो ब्रहम सबके सर्वोत्तम आश्रय हैं, उन्हीं में समस्त विश्व स्थित है। वे ही सबके प्रेरक और नाश न होने वाले परम अक्षर हैं। जिन्होंने ध्यानयोग से ब्रह्म के दिव्य शक्ति का दर्शन किया था वे ऋषि लोग परब्रह्म को अपने हृदय में अन्तर्यामी रूप से विराजमान समझकर, उन्हीं के परायण होकर उन्हीं में लीन हो गये और सदा के लिये मुक्त हो गये। आगे कहा गया है:-

एतज् ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं ही किंचित्।[21]
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्व प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।।

अर्थात् ब्रह्म में भोक्ता, भोग्य और नियन्ता ये तीनों प्रतिष्ठित हैं। यह अक्षर हैं, विकारयुक्त विश्व प्रपञ्च का आश्रय होने पर भी स्वयं अविकारी, अविनाशी है, पुरूष, प्रकृति तथा परमेश्वर ब्रह्म के यह तीन कार्य-कारणात्मक आध्यात्मिक स्वरूप हैं, परन्तु पारमार्थिक रूप से ब्रह्म प्रपञ्चातीत एवं त्रिकालाबाह्य है। भोक्ता जीव, भोग्य निढिल पदार्थ तथा ईश्वर यह परब्रह्म में ही प्रतिष्ठित हैं वे ही समस्त वस्तुओं की अचल प्रतिष्ठा हैं। स्वयं ही अधिकारी या अधिनायक है। इस प्रपञ्च में सर्वान्तर्यामी ब्रह्म को जानकर ब्रह्मज्ञ समाधि अवलम्बन करके ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं तथा पुनर्जन्मादि से मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्म सच्चिदानन्दः- निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म ही सच्चिदानन्द हैं। ब्रह्म अज्ञेय, अभेद, अनिर्देश्य होने पर भी उपनिषद् में सच्चिदानन्द रूपेण वर्णित है। परब्रह्म के विश्लेषण में छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि सत्य ही ब्रह्म का नाम है। सत्यहणा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति। वृहदारण्यक उपनिषद् में ब्रह्म को समस्त सत्यों का भी सत्य कहा गया है, 'सत्यस्य सत्यम्'[23]। इसी प्रकार तैत्तिरोपनिषद् में ब्रह्म को 'सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम्' के रूप में वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है- 'सत्यम् ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्राह्मणा विपश्चितेति।[24]

यहां शंकराचार्य ने बताया है कि परब्रह्म सत्य रूप है। 'सत्य' शब्द यहां नित्य सत्ता का बोधक हैं, अर्थात् ब्रह्म नित्य सत् है तथा वे ज्ञान रूप हैं उनमें अज्ञान का लेश भी नहीं है और वे अनन्त हैं। वह ब्रह्म विशुद्ध आकाश में रहते हुये भी सबके हृदय की गुफा में छिपे हुये हैं। जो साधक तत्व से उसे जान लेता है वह सबको

जानने वाले ब्रह्म के साथ रहते हुये सभी प्रकार के भोगों को अलौकिक ढंग से अनुभव करता है। अखण्ड सत्य के अतिरिक्त कोई सत्य न रहने से ब्रह्म सत् हैं, तथा सत् स्वरूप ब्रह्म ही चिन्मय या ज्ञान स्वरूप हैं। विज्ञानमय आत्मा का वर्णन करते हुये तैत्तिरीयोपनिषद् में आचार्य शंकर ने कहा है - विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्माज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति। तस्यैष एव शरीर आत्मा यः पूर्वस्य।[25]

विज्ञान अर्थात् बुद्धि के साथ तद्रूप हुआ आत्मा ही शुभ कर्म रूप पूण्यों यक्षों का विस्तार करता है और यही लौकिक कर्मों का भी विस्तार करता है। सभी इन्द्रियां एवं मन ब्रह्म के रूप में इस विज्ञानमय जीवात्मा की ही सेवा करते हैं। यदि कोई साधक इस विज्ञान स्वरूप आत्मा को ही ब्रह्म समझता है और यदि अपनी इस धारण में कभी भूल नहीं करता तो वह अनेक जन्मों के संचित पाप समुदाय को शरीर में ही छोड़कर समस्त दिव्य भोगों का अनुभव करता है। यह ब्रह्म किसी के ज्योति से प्रकाशित नहीं है बल्कि इसी ज्योति से सूर्य, चन्द्र आदि सभी प्रकाशित होते है। ब्रह्म सभी प्रकार के आनन्द का एकमात्र अधिष्ठान है - विज्ञानमानन्दम् ब्रह्म इस संसार के सभी जीव जिस आनन्द का आस्वादन करते हैं, वह इस असीम ब्रह्मानन्द का अति क्षुद्र बिन्दु मात्र हैं।

इस ब्रह्म विद्या की जिज्ञासा रखने वाले के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि जिस परपब्रह्म को नेति-नेति कहकर निषेधात्मक रूप से ही जाना जा सकता है, उस ब्रह्म को यदि सच्चिदानन्द स्वरूप कहा जाय उनको निर्विशेष निर्गुण, अवाङ्गमनगोचर आदि कैसे कहा जा सकता है? इसके समाधान के लिये आचार्य शंकर कहते हैं कि व्यवहारिक दृष्टि से यद्यपि सत्, चित्, आनन्द सगुण, सविशेष ही प्रतीत होता है, लेकिन वास्तविक रूप से संज्ञाएं नेति के ही प्रतिरूप, अभाव के ही सूचक हैं। जिनके नियत रूप का व्यभिचार नहीं होता वही सत्य है। अतः ब्रह्म सत्य है, क्योंकि न तो उनकी क्षय, बृद्धि हैं, और न तो उत्पत्ति, विनाश। ब्रह्म के अतिरिक्त सभी ज्योतिमान वस्तु ब्रह्म लोक से आलोकित उसी का प्रतिबिम्ब है। जड़ के विपरित होने के कारण स्वयं प्रकाश ब्रह्म चित् है। वह समस्त का भेद निश्चित हो जाता हैं, दृष्य की परिसमाप्ति दृष्टा में हो जाती है तब भी ब्रह्म का ज्ञानस्वरूप अक्षुण्य रहता है। ब्रह्म आनन्द स्वरूप है, क्योंकि ब्रह्म दुःख स्वरूप नहीं, निर्विशेष सुख स्वरूप है।

सगुण ब्रह्म :- निर्गुण ब्रह्म ही माया से युक्त होकर सगुण रूप हो जाता

है। माया उपाधियुक्त ब्रह्म ही ईश्वर के रूप में जाना जाता है। ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय, निर्गुण, तथा निर्विशेष है। ईश्वर तथा जीव ब्रह्म की सगुण अभिव्यक्ति, ब्रह्म प्रतिबिम्ब या मायिक विकास है। यह माया ही जगत् जननी प्रकृति है ईश्वर और जीव में भेद इतना ही है कि ईश्वर सर्वज्ञ और जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वशक्मिान है और जीव अल्प शक्ति सम्पन्न है।

अद्वैत वेदान्त के इन सिद्धान्तों का आधार उपनिषद् है। उपनिषद् में भी ब्रह्म को सगुण तथा निर्गुण कहा गया है, लेकिन सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म भिन्न तत्व नहीं हैं। स्वरूपतः जो निर्गुण है वही माया युक्त होकर सगुण है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है :-

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।[27]
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।।

इस सगुण ब्रह्म या मायामय ईश्वर से अखिल भूत उत्पन्न हुये हैं तथा उन्हीं के प्रभाव से विकसित होकर विनाशकाल में इन्हीं में लय प्राप्त होते हैं। इस प्रकार में जो माया के नाम से वर्णित है वह ईश्वर की शक्तिरूपा प्रकृति है और उस शक्तिरूपा प्रकृति (माया) का अधिपति परब्रह्म परमेश्वर है। उस ईश्वर की माया के ही अंगभूत कार्य-कारण समुदाय से यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त हो रहा है। आचार्य शंकर ने इस भाव धारा का अनुसरण करके ही 'जन्माद्यस्ययतः' इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि यही ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसी लक्षण से सगुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। सत्यं ज्ञानं अनन्तं बह्म[29] ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। सगुण अवस्था में ब्रह्म लहरी सङ्कुल विक्षुब्ध तरंगायमान वारिधि के समान है। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है :- 'एष सर्वेश्वर एव भूताधिपतिरेष भूतपालं'[30] यह सगुण ब्रह्म ही परम देवता है, विश्वपति, आखिल चराचर का कर्ता तथा शासक है।

ब्रह्म, जगत् तथा जीव भाव :- अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत और जीव भाव अविद्या कल्पित है। एकमात्र निर्गुण ब्रह्म ही सत्य है। अद्वैतवाद का यह सिद्धान्त उपनिषद् के आधार पर प्रतिपादित है। ब्रह्म ही माया से युक्त होकर इस जगत की सृष्टि करता है, तथा इस सृष्ट जगत् में माया या अविद्या द्वारा जीव रूप से बद्ध होता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है :-

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति।[31]
यस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायमा संनिरूद्धः।।

जो समस्त वेदमंत्र रूप द्वन्द, यज्ञ, क्रतु अर्थात् शुभकर्म, सदाचार और

उनके नियम हैं और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं, जिनका वर्णन वेदों में पाया जाता है - इन सबको वे ईश्वर ही अपने पंचभूत आदि तत्व समुदाय से रचते हैं, इसप्रकार रचे हुये उस जगत् में ज्ञानी पुरूषों से भिन्न जीव माया के द्वारा बंधा हुआ है। जब तक जीव उस ईश्वर का साक्षात्कार नहीं कर लेता तब तक वह मुक्त नहीं हो सकता। वास्तविक रूप से ब्रह्म के अतिरिक्त जगत् या अन्य कुछ भी नहीं है। इसका पर्याप्त प्रमाण उपनिषद् में उपलब्ध है, जैसे- 'आत्म वेदं सर्वं'[32] इशावस्यमिदं सर्वं[33] आदि। ब्रह्म ही जीव रूपेण इस जगत् में प्रवेश करके नाम रूप के भेद साधन करते हैं। यह नानात्वपूर्ण नामरूप से युक्त जगत् मिथ्या है। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य है। मूर्त व्यक्त रूप जगत् मायिक विकास है, अमूर्त, अव्यक्त, अमृत रूप ही उसका प्रकृत रूप है - एकं सद्विप्राबहुधा वदन्ति। आत्म दर्शन होने पर ब्रह्म का यह विभिन्न प्रकाश, यह जड़ प्रपञ्च तथा जीव, सच्चिदानन्द परम देवता ब्रह्म में ही विलिन हो जाते हैं - ब्रह्मैवेदं सर्वनेह नानाक्रस्ति किञ्चन्'।

आचार्य शंकर ने उपनिषद् भाष्य में सिद्ध किया है कि समस्त उपनिषदों में ही ब्रह्म का एकत्व तथा नामरूप जगत् का मिथ्यात्व प्रमाणित है। इशोपनिषद् के चतुर्थ श्लोक में कहा गया है :-

अनेजदेकंमनसोजवीयों नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्।[34]
तद्धावतोक्रयानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मारिश्वा दधाति।।

वह ईश्वर अचल, एक तथा मन से भी अधिक तीव्र वेग वाला है। मन की गति से भी आगे वह पहले से ही विद्यमान है, वे सबके आदि और ज्ञान स्वरूप हैं। इन्द्रियां भी इनको नहीं प्राप्त कर सकतीं। वह स्थिर होने पर भी अन्य सब गतिशीलों को अतिक्रमण कर जाता है। वायु आदि कर्म करने में समर्थ होते हैं, वह इस ईश्वर की शक्ति का एक अंश मात्र है। इसी उपनिषद् के सप्तम् श्लोक में कहा गया है :-

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।[35]
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

अर्थात् जिस समय ज्ञानी पुरूष के लिये समस्त भूत आत्मा ही हो गये, उस समय सर्वत्र एकत्व का दर्शन करने वाले उस विद्वान को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है। इस समय वह इतना आनन्दमय हो जाता है कि शोक-मोहादि विकारों की छाया भी कहीं उसके चित्त प्रदेश में नहीं रह जाती। इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् के 6/2/1 में कहा गया है कि - ''एकमेवाद्वितीयम्''[36]। अर्थात् वह ब्रह्म

स्वरूपतः एक ही है वह माया से युक्त होने के कारण सगुण रूप में जाना जाता है। यह सगुण ब्रह्म की अवधारणा व्यवहारिक दृष्टि है, जिसे इस ज़गत् के सृष्टा ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठा की गयी है। इस प्रकार यह जो निर्गुण एवं सगुण की अवधारण अद्वैत वेदान्त में देखी जाती है यह व्यवहारिक दृष्टि के कारण है। व्यवहारिक जगत् में ईश्वर व्यवहारिक ब्रह्म है। वह पारमार्थिक ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। वह माया द्वारा प्रतिबिम्बित ब्रह्म होते हुये भी उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता ईश्वर मिथ्या केवल उसके लिये है जिसे ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त हो चुकी हो। ब्रह्म के बारे में हमारे सारे कथन वस्तुतः ईश्वर के बारे में होते हैं। अतः ईश्वर सत् न होकर, सत् का आभास होते हुये भी, मिथ्या नहीं है, बल्कि व्यवहारिक जगत् की सर्वोच्च सत्ता है। एक ही ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण तथा व्यवहारिक दृष्टि से सगुण है। सगुण का अर्थ है गुणों से युक्त। गुणों से युक्त दृष्टि से ईश्वर विश्व का सृष्टिकर्ता, पालक और संहारक है। वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, नित्य, प्रेममय है। वह पूर्ण पुरूष है, वह माया पति है। वह सारे विश्व में निहित है और वही आन्तरिक रूप से नियंत्रित करता है। वह समस्त आत्माओं की आत्मा है। परमात्मा है। अन्तर्वर्ती शासक के रूप में वह अन्तर्यामी है, तथा वह विश्व का अतिक्रमण भी कर जाता है अर्थात् वह उससे परे भी है। वह ही वस्तु का अन्तिम श्रोत, मूर्त और सर्वव्यापी एवं सर्वोच्च शक्ति हैं। वह उपासना का विषय है तथा नैतिक जीव की प्रेरणा है। व्यवहारिक दृष्टि से वही सब कुछ है।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जो सगुण ईश्वर है वह पारमार्थिक सत् नहीं है, ब्रह्म नहीं है अर्थात् पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं है। शंकराचार्य ने एक दृष्टांत द्वारा इस पारमार्थिक एवं व्यवहारिक दृष्टि को समझाया है। एक चरवाहा नाटक में राजा बनता है। उसकी वास्तविकता यह है कि वह चरवाहा है, किन्तु नाटक के दृष्टिकोण से अर्थात् नाटक के व्यवहारिक दृष्टि से वह राजा है। उसी प्रकार माया के दृष्टिकोण से व्यवहारिक जगत के नाटकीय दृष्टिकोण से ईश्वर सत्य प्रतीत होता है, पर वास्तव में केवल ब्रह्म ही सत्य है, अन्ततः निर्गुण, अनिर्धय, सर्वभेद रहित अद्वैत है।

ईश्वर को माया में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब कहा गया है। यह सि(ान्त प्रतिबिम्बवाद कहलाता है। व्यवहारिक जगत में अविद्या से ग्रस्त जीव के लिये ही ईश्वर, ईश्वर है। ईश्वर स्वयं ईश्वर नहीं है। वह तो अनिवार्यतः ब्रह्म से अद्वैत है। अविद्या कभी भी ईश्वर के लिये आवरण नहीं हो सकती। जीव अविद्या के कारण दुःखी होता है लेकिन ईश्वर ब्रह्म के आनन्द में स्थित है। ब्रह्म को जब हम संसार के रूप में देखते हैं तो ईश्वर, आत्मा और प्रकृति तीनों ही एक साथ प्रकट हो जाते

हैं। ईश्वर को इसलिये सगुण ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त में सगुण ब्रह्म और उसके संरचनात्मक गुणों में एक विशेष प्रकार का संबंध है जिसे तादात्म कहा गया हैं। तादात्म न तो भेद है और न अभेद है और न ही अभेद में भेद है। सगुण ब्रह्म में वस्तुतः अभास निहित है, इसलिये अन्तिम सत्ता नहीं कहा जा सकता है। सगुण ब्रह्म में न केवल सत् निहित है, बल्कि आभास भी है। इसमें जो सत् तत्व है, वह अद्वैत का तत्व है और जो आभास है वह सत् से निश्चित ही कम है अर्थात् दोनों ही आभास रूप है और अन्तिम सत्ता अद्वैत जो इन दोनों का अधिष्ठान है, निर्विशेष वस्तु है। शंकराचार्य ने इसीलिये अंतिम सत्ता को ऐक्य नहीं कहा है, अद्वैत कहा है।

गीता भाष्य में ब्रह्म का स्वरूप :- गीता में ब्रह्म के स्वरूप का जो वर्णन किया है वह निम्नलिखित रूपों में देखा जा सकता है :-

गीता के तृतीय अध्याय के पन्द्रहवें श्लोक में ब्रह्म के सगुण-निराकार के रूप में वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :-

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञेप्रतिष्ठितम्।।[36]

भगवान श्रीकृष्ण ने क्रियारूप कर्म के सम्बन्ध में कहा है कि हे अर्जुन, कर्म की उत्पत्ति का कारण वेद है और वेदरूप ब्रह्म अक्षर से उत्पन्न हुआ है अर्थात् ब्रह्म ही वेद की उत्पत्ति का कारण है। वेदरूप ब्रह्म साक्षात् परमात्मा नाम अक्षर से पुरूष के निः स्वास की भांति उत्पन्न हुआ है, इसलिये वह सभी अर्थो को प्रकाशित करने वाल सर्वगत है तथा यज्ञ विधि में वेद की प्रधानता होने के कारण सर्वगत होता हुआ ही सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

गीता के चतुर्थ अध्याय के चौबीसवें श्लोक के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह इस प्रकार है :-

ब्रह्ममार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रहमाग्नौ ब्रह्मणाहुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना।।[38] ब्रह्म को जानने वाले पुरूष जिस साधन द्वारा अग्नि में हवि अर्पण करते हैं, उस साधन को ब्रह्म रूप ही देखा करते हैं अर्थात् आत्म के सिवा अभाव देखते हैं। जिस प्रकार सीप को जानने वाला चांदी में सीप का अभाव देखता है उसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाला भी समझता है कि जो अर्पण दिखायी देता है वह ब्रह्म ही है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में अर्पण किये जाने वाले सभी पदार्थ ब्रह्म ही हैं। ब्रह्माग्नो पद समासयुक्त है। इसलिये यह अर्थ हुआ कि ब्रह्मरूप

कर्ता द्वारा जिसमें हवन किया जाता है वह अग्नि भी ब्रह्म ही है।

उस ब्रह्मकर्म में स्थित हुये पुरूष द्वारा प्राप्त करने योग्य जो फल है वह भी ब्रह्म ही है। इस प्रकरण में जो ब्रह्मार्पणम् आदि वचन है यह ज्ञान को यज्ञ रूप से सम्पादन करने में समर्थ है, नहीं तो सब कुछ ब्रह्मरूप होने के कारण अर्पण आदि को अलग करके ब्रह्म रूप से विद्यमान करना व्यर्थ होगा। इस श्लोक में यथार्थ ज्ञान को ब्रह्म ज्ञान को यज्ञ रूप से सम्पादन किया गया है जिसमें यज्ञ करने वाला, यज्ञ के साधन सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है। इसी अध्याय में 31वें श्लोक के अन्तर्गत ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन कियां गया है जो निम्नलिखित रूप में है :-

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोक्रन्यः कुरूसत्तम्।।[39]

यज्ञों के शेष का नाम यज्ञशिष्ट है। यज्ञ करने के पश्चात बचे हुये प्राप्त अमृत रूप विहित अन्न को भक्षण करने वाले यज्ञशिष्ट अमृत भोजी पुरूष सनातन यानी चिरन्तन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यहां यान्ति शब्द से यह पाया जाता है कि यदि यज्ञ करने वाले मुमुक्षु होते हैं तो कालातिक्रम की अपेक्षा से अर्थात् मरने के बाद कितने ही काल तक ब्रह्म लोक में रहकर फिर प्रलय के समय ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। गीता के पाचवें अध्याय के छठें श्लोक में ब्रह्म का जो विवेचन किया गया है, वह निम्नलिखित है:-

संन्यासस्तु महावाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योग युक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।।[40]

यहां पर भगवान श्रीकृष्ण ने संन्यास को ब्रह्म के अर्थ में लेते हुये कहते हैं कि हे अर्जुन, बिना कर्मयोग के पारमार्थिक संन्यास प्राप्त होना कठिन है, तथा पफल न चाहकर ईश्वर-समर्पण के भाव से किये हुये वैदिक कर्मयोग से युक्त हुआ, ईश्वर के स्वरूप को मनन करने वाला मुनि, ब्रह्म को अर्थात परमात्म ज्ञान निष्ठा रूप पारमार्थिक संन्यास को, शीध्र ही प्राप्त कर लेता है, इसलिये मैने कहा कि कर्मयोग श्रेष्ठ है। परमात्मज्ञान का सूचक होने से प्रकरण में वर्णित संन्यास ही ब्रह्म नाम से कहा गया हैं, तथा संन्यास ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही पर है। ''न्यास इति ब्रह्म हि पर'' नाउ02/178 इस श्रुति से भी यही बात सिद्ध होती है।

इसी अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में भी ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन किया गया है जिसमें उसके निर्दोश होने की बात कही गयी है :-

इहैव तैर्जित : सर्गो चेषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः।[41]

जिनका अन्तःकरण सब भूतों के अन्तर्गत ब्रह्मरूप समभाव में स्थित यानी निश्चल हो गया है, उन समदर्शी पंडितों ने जीवितावस्था में ही जन्म को जीत लिया है अर्थात उसे अपने अधीन कर लिया है। ब्रह्म निर्दोश है। यद्यपि मूर्ख लोगों को आत्मा दोषयुक्त प्रतीत होता है, तो भी वह आत्मा उनके दोषों से निर्लिप्त ही है। यह चेतन आत्मा अनादि और निर्गुण होने के कारण लिप्त नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा सम और एक है। इसलिये समदर्शी पुरूष ब्रह्म में ही स्थित हैं, इसी कारण उनको दोष स्पर्श नहीं कर पाता, क्योंकि उनमें से देहादि संघात को आत्मा रूप से देखने का अभिमान जाता रहता है। ब्रह्म सम्पूर्ण गुण-दोषों के संबंध से रहित है इसलिये यह कहना ठीक है कि वे ब्रह्म में स्थित हैं। गीता के सातवें अध्याय के उन्नीसवें श्लोक में ब्रह्म का वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है:-

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्तिये।
ये ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।[42]

भगवान श्रीकृष्ण ने दृढ़व्रती पुरूष के संबंध में कहा है कि जो द्वन्द्वमोह से मुक्त हुआ पुरूष दृढ़ता पूर्वक जरा और मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये मुझ परमेश्वर का आश्रय लेकर अर्थात मुझमें चित्त को समाहित करके प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्म को जानते हैं एवं समस्त अन्तरात्मविषयक वस्तु को और अखिल समस्त कर्म कों भी जानते हैं। आठवें अध्याय के प्रथम श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है जो निम्नलिखित हैं :-

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं पुरूषोत्तम।[43]
अधिभूतं च किं प्राक्तमधिदैवं किमुच्यते।।

यहां अर्जून नें भगवान श्रीकृष्ण से ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रश्न करते हुये पूछा है कि हे पुरूषोत्तम! वह ब्रह्म तत्व क्या है? अध्यात्म क्या है? अँधिभूत किसको कहते हैं? अँध्दिैव किसको कहते हैं? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देते हुये भगवान श्रीकृष्ण ने इसी अध्याय के तीसरे श्लोक में कहा हैं :-

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोक्रध्यात्ममुच्यते।
भूतयावोद्भवकरोविसर्गः संक्षितः।।[44]

परम अक्षर ब्रह्म है अर्थात् इस अक्षर के शासन में ही यह सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुये स्थित हैं आदि श्रुतियों से जिसका वर्णन किया गया है, जो कभी

नष्ट नहीं होता वह परमात्मा ही ब्रह्म है। परम विशेषण से युक्त होने के कारण यहां अक्षर शब्द से "अमित्येकाक्षरं" इस वाक्य में वर्णित ओंकार का ग्रहण नहीं किया है, क्योंकि "परम" वह विशेषण निरतिशय अक्षर ब्रह्म में ही अधिक सम्भव युक्ति युक्त है। उसी ब्रह्म का जो प्रत्येक शरीर में अन्तरात्म भाव है उसका नाम स्वभाव है, वह स्वभाव ही अध्यात्मक कहलाता है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा जो शरीर को आश्रय बताकर उसमें रहने वाला है और परिणाम में जो परमार्थ ब्रह्म ही है, वही तत्व स्वभाव है, उसे ही अध्यात्मक कहते हैं। भूतों की सत्ता भूत भाव है। उसका उद्भव भूतोद्भव है। उसको करने वाला भूतोद्भव कर यानी भूत वस्तु को उत्पन्न करने वाला, ऐसा जो विसर्ग अर्थात देवों के उद्देश्य से हवन करने योग्य द्रव्यों का त्याग करना है, वह त्यागरूप यज्ञ, कर्म नाम से कहा जाता है, इस बीज रूप यज्ञ से ही वृष्टि आदि के क्रम से स्थावर-जड़-जंगम समस्त भूत प्राणी उतपन्न होते हैं। इसी अध्याय के तेरहवें श्लोक में भी ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन है :-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।[15]

'ओम' इस एक अक्षर रूप ब्रह्म के स्वरूप का लक्ष्य कराने वाले ओंकार का उच्चारण करता हुआ और उसके अर्थरूप मुझ ईश्वर का चिन्तन करता हुआ जो पुरूष शरीर को छोड़कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त करता है। यहां त्यजन्देहम् यह विशेषण मरण का लक्ष्य कराने के लिये है। अभिप्राय यह है कि देह के त्याग से ही आत्मा का मरण है, स्वरूप के नाश से नहीं। पुनः इसी अध्याय के चौबीसवें श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का जो वर्णन किया गया हैं, वह इस प्रकार है :-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायंणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्मविदो जनाः।।[16]

यहां अग्नि और ज्योति दोनों ही कालाभिमानी देवता का ही वाचक है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस मार्ग में अग्निदेवता, ज्योति देवता, दिन का देवता, शुक्लपक्ष का देवता और उत्तरायण के छः महीनों का देवता है उस मार्ग में मरकर गये हुये ब्रह्मवेत्ता यानी ब्रह्म की उपासना में तत्पर हुये पुरूष क्रम से ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। यहां उत्तरायण मार्ग भी देवता का ही वाचक है क्योंकि ब्रह्म सूत्र में भी यही स्वीकार किया गया है। जो पूर्ण ज्ञाननिष्ठ सद्योमुक्ति के पात्र हैं, उनका आना-जाना कहीं नहीं होता, उनके प्राण निकलकर कहीं नहीं जाते, वे तो ब्रह्मसंलीन प्राण अर्थात् ब्रह्ममय - ब्रह्मरूप ही हैं।

गीता भाष्य के दसवें अध्याय में बारहवें श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण की विभूति को सुनकर अर्जून उनके स्वरूप के विषय में कहते हैं :-

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरूषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभूम्।।[47]

आप परम ब्रह्म-परमात्मा, परमधाम-परम तेज और परम पावन हैं तथा आप नित्य और दिव्य पुरूष हैं अर्थात देवलोक में रहने वाले अलौकिक पुरूष हैं एवं आप सब देवों से पहले होने वाले आदि देव, अजन्मा और व्यापक हैं। तेरहवें अध्याय के बारहवें श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है वह निम्नलिखित है:-

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।[48]

जिस जानने योग्य परमात्मा के स्वरूप को जानकर मनुष्य अमृत अर्थात अमरभाव को प्राप्त कर लेता है, वह ज्ञेय अनादिगत् है। वह अनादिगत् परम् ब्रह्म ही है जो इस प्रकरण में ज्ञेय रूप से वर्णित है। इसी अध्याय के तीसवें श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :-

यदा भूतपृथभावमेकस्थमनुपश्यति।
तत् एवं च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।[49]

जिस समय यह विद्वान भूतों के अलग-अलग भावों को एक आत्मा में ही स्थित देखता है अर्थात आत्म को इस प्रकार प्रत्यक्ष भाव से देखता है कि यह सब कुछ आत्मा ही है। तथा उस आत्मा से ही सबकी उत्पत्ति देखता है अर्थात् आत्मा से ही प्राण, आशा, संकल्प, आकाश, तेज, जल, अन्य आदि का प्रकट एवं लीन होना देखता है, उस समय वह ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। गीता के चौदहवें अध्याय के चौथे श्लोक के द्वारा ब्रह्म का वर्णन किया गया है, जो निम्नलिखित प्रकार से है:-

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महधोनिरहं बीजप्रदः पिता।।[50]

इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण स्वयं को बीज प्रदान करने वाला पिता के रूप में स्वीकार करते हुये कहते हैं, हे कुन्ती पुत्र। देव, पितृ, मनुष्य पशु और मृग आदि समस्त योनियों में जो मूर्तियां उत्पन्न होती हैं, उन सब मूर्तियों से सब प्रकार से स्थित महत ब्रह्म रूप मेरी माया तो गर्भ धारण करने वाली योनि है, और मैं ईश्वर बीज प्रदान करने वाला पिता हूँ। गीता के अट्ठारहवें अध्याय के पचासवें श्लोक में ब्रह्म के स्वरूप का जो वर्णन है वह इस प्रकार है :-

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध में।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।[51]

सिद्धि को प्राप्त हुआ अर्थात अपने कर्मों द्वारा ईश्वर की पूजा करके, उसकी कृपा से उत्पन्न हुई शरीर और इन्द्रियों की ज्ञान निष्ठा प्राप्ति का योग्यता रूप सिद्धि को प्राप्त हुआ पुरूष ब्रह्म को प्राप्त करता है। ज्ञान का जो परानिष्ठ है उसको सुन अंतिम अवधि-परिसमाप्तिं का नाम निष्ठा है। ऐसी जो ब्रह्म ज्ञान की परमावधि हैं, उसको सुन। वह ब्रह्म ज्ञान की निष्ठा कैसी है? जैसा कि आत्म ज्ञान है। वह कैसा है? जैसा आत्मा है। वह आत्मा कैसा है? जैसा भगवान ने बताया है तथा जैसा उपनिषद् वाक्यों द्वारा कहा गया है और जैसा न्याय से सिद्ध है।

ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में ब्रह्म का विवेचन :- ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय में ब्रह्म को आनन्दमय कहा गया है। इसमें कहा गया है - आनन्दमयोक्रभ्यासत्।[52] तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक आदि उपनिषदों में आनन्द शब्द का बार-बार प्रयोग ब्रह्म के अर्थ में हुआ है। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्म बल्ली के छठें अनुवाक में आनन्दमय का वर्णन आरम्भ करके सातवें अनुवाक में उसके लिये रसो वैसः। रसं, होवायं लब्ध वाक्रक्र नन्दी भवति। को होवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष होवा नन्दयाति। 'अर्थात् वह आनन्द ही रस स्वरूप है। यह जीवात्मा जब रस स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करता है तो वह आनन्दयुक्त हो जाता है। यदि वह परमात्मा पूर्ण आनन्द स्वरूप नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणों की क्रिया कर सकता? सचमूच यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है। श्रुतियों मे जगह-जगह पर ब्रह्म के अर्थ में आनन्द एवं 'आनन्दमय' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसलिये आनन्दमय शब्द से यहां उस सर्वशक्तिमान, समस्तजगत् के परम कारण, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, सबके आत्म स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का ही वर्णन है, अन्य किसी का नहीं आनन्दमय शब्द में 'मयट्' प्रत्यय विकार का बोधक है और परब्रह्म परमात्मा निर्विकार हैं। अतः जिस प्रकार अन्नमय आदि शब्द ब्रह्म के वाचक नहीं हैं उसी प्रकार 'आनन्दमय' शब्द भी परब्रह्म का वाचक नहीं होना चाहिये। इसका समाधान शंकराचार्य करते हैं - 'विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात्।।[53] पाणिनि सूत्र 'तत्प्रकृतवचने मयट्' के अनुसार प्रचुरता के अर्थ में भी मयट् प्रत्यय होता है। अतः यहां 'आनन्दमय' शब्द में प्रयट् प्रत्यय विकार का वाचक न होकर प्रचुरता अर्थ का ही बोधक है अर्थात् ब्रह्म आनन्दधन है। परब्रह्म परमेश्वर आनन्दधन रूप है, इसलिए आनन्दमय कहना सर्वथा उचित है।

यहां पर यह जिज्ञासा होती है कि जब 'मयट्' प्रत्यय विकार का भी बोधक

होता है तो उसे प्रचुरता का ही बोधक क्यों माना जाय? क्यों न विकार बोधक ही स्वीकार कर लिया जाय? इस पर कहते हैं कि - 'तद्धेतुव्यपदेशाच्च'[54] उपनिषदों में ब्रह्म को उस आनन्द का हेतु बताया गया है, अर्थात् आनन्दमय ब्रह्म को आनन्द प्रदान करने वाला बताया गया है। जो सबको आनन्द प्रदान करता है वह स्वयं आनन्दधन हैं, क्योंकि जो अखण्ड आनन्द का भण्डार होगा, वही सबको सदा के लिये आनन्द प्रदान कर सकता है। इसलिये यहां 'मयट्' प्रत्यय को विकार का बोधक न मानकर प्रचुरता का बोधक मानना ही उचित है। इसके अतिरिक्त केवल प्रचुरता का ही बोधक होने से 'आनन्दमय' ब्रह्म का वाचक है, इतना ही नहीं, बल्कि 'मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते'[55] तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दबल्ली के आरम्भ में जो यह कहा गया है - सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायांपरमेव्योमन्। सोक्श्नुते सर्वान् कामान् सह ब्राह्मणा विपश्चिता। 'अर्थात् ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है। वह ब्रह्म विशुद्ध परमधाम में रहते हुये ही सबके हृदयरूप गुफा में छुपा हुआ है, जो उसको जानता है वह सबको भली-भांति जानने वाले ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का अनुभव करता है। जिस प्रकार इस मंत्र में उस ब्रह्म के साथ समस्त भोगों का अनुभव करता है। जिस प्रकार इस मंत्र में उस ब्रह्म को सबका अन्तरात्मा बताया गया है, उसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थ में 'आनन्दमय' को सबका अन्तरात्मा कहा है। इस प्रकार दोनों स्थलों की समानता के लिये यही मानना उचित है कि 'आनन्दमय' शब्द यहां ब्रह्म का ही वाचक है, अन्य किसी का नहीं।

'आनन्दमय' शब्द को जीवात्मा का वाचक मान लेने से जो कठिनाई होगी उसे स्पष्ट करते हैं:-[56] तैत्तिरीयोपनिषद् में आनन्दमय ब्रह्म का वर्णन करने के पश्चात् यह कहा गया है कि 'सो कामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्।'' आनन्दमय ब्रह्म ने यह इच्छा की कि में बहुत हो जाऊँ, जन्म ग्रहण करूं, फिर उसे तप किया, तप ;संकल्पद्ध करके समस्त जगत् की रचना की। यह कथन जीवात्मा के लिये इसलिये उचित नहीं है क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ एवं परिमित शक्ति वाला है, उसमें जगत की रचना आदि की सामर्थ्य नहीं है। अतः ''आनन्दमय'' शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं हो सकता। इसी को सिद्ध करने हेतु दूसरा कारण बतलाते हैं - ''भेदव्यपदेशाच्य''[57] परमात्मा रस स्वरूप है, और यह जीवात्मा रस स्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है। इस प्रकार यहां परमात्मा को आनन्ददाता और जीवात्मा को आनन्दयुक्त होने वाला बताया गया है। इससे दोनों का भेद सिद्ध होता है। इसलिये भी ''आनन्दमय'' शब्द जीवात्मा का वाचक नहीं है। आनन्द हेतु जो सत्वगुण है, वह प्रकृति में भी विद्यामान है क्योंकि प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतः ''आनन्दमय'' शब्द को प्रकृति का ही वाचक क्यों न माना

जाय? इसके समाधान में कहते हैं - "कामाच्च नानुमानापेक्षा"[58] जहां आनन्दमय का प्रसंग आया है, वहां "सोकामायत" वाक्य के द्वारा आनन्दमय में सृष्टि विषयक कामना सूचित होती है, जो कि जड़ प्रकृति में सम्भव नहीं है। अतः उस प्रकरण में वर्णित "आनन्दमय" शब्द से जड़ प्रकृति को ग्रहण नहीं किया जा सकता। ब्रह्म के सिवा प्रकृति या जीवात्मा कोई भी "आनन्दमय" शब्द से गृहीत नहीं हो सकता। इस बात को और दृढ़ता प्रदान करने के लिये प्रकरण का उपसंहार करते हुये कहते हैं कि - "अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति"[58] श्रुति कहती है" स य एवं विद् एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" अर्थात् इस आनन्दमय परमात्मा के तत्व को इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् अभययादि समस्त शरीरों के आत्म स्वरूप आनन्दमय ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। ब्रहदारण्यक में भी श्रुति का कथन हैं कि ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति"- कामनारहित आप्तकाम पुरूष ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्म में लीन होता है। श्रुति के इन वचनों से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि जड़ प्रकृति या जीवात्मा को "आनन्दमय" नहीं माना जा सकता, क्योंकि चेतन जीवात्मा का जड़ प्रकृति में या अपने ही समान परतंत्र दूसरे किसी जीव में लय होना सम्भव नहीं हो सकता।

ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय के दूसरे पाद में 11वें सूत्र के द्वारा हृदयगुहा में स्थित दो आत्मा- जीवात्मा तथा परमात्मा का प्रतिपादन किया गया है जिसका वर्णन छाया एवं धूप के रूप में किया गया है। गुहां प्राविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्"[59] कठोपनिषद् 1/3/1 में कहा गया है - ऋतं पिबन्तों सुकृत्य लोके गुहां प्रविष्टों परमे पराधै। छायातपौ ब्रह्मविदो वदंति पञ्चग्रंथो ये च त्रिणाचिकेताः।।" ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी लोगों का कहना है कि यह शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य के शरीर में परब्रह्म के उत्तम निवास स्थान ;हृदयाकाशद्ध में बुद्धिरूप गुहा में छिपे हुये तथा "सत्य" का पान करने वाले दो हैं, वे दोनों छाया एवं धूप की भांति परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले हैं। इस मंत्र में कहे हुये दोनों छाया एवं धूप की भांति परस्पर विरूद्ध स्वभाव वाले हैं। इस मंत्र में कहे हुये दोनों भोक्ता जीवात्मा एवं परमात्मा ही है, जिन्हें छाया एवं धूप के रूप में कहा गया है। परमात्मा ही जीव को उसके कल्याण के लिये शरीर प्रदान करते हैं और पिफर उस जीवात्मा के साथ स्वयं भी उसी के हृदय में अन्तर्यामीरूप से प्रविष्ट हो जाते हैं। वे दोनों साथ-साथ सत्य का पान करते हैं। शुभ कर्मों के सत्य पफल का भोग करते हैं, लेकिन दोनों के भोग में अन्तर है। परमात्मा का प्रत्येक प्राणी के हृदय में निवास करके उसके शुभ कर्मों के पफल का उपयोग करना वैसी ही लीला है, जैसी अजन्मा होकर जन्म ग्रहण करना। इसलिये यह कहा जाता है कि वे भोगते हुये भी वस्तुतः नहीं भोगते। परमात्मा सत्य को पिलाते है, जीवात्मा पीता है- पफल भोगता है परन्तु जीवात्मा अभिमानवश सुख का उपभोग

करता है। इस साथ-साथ रहने पर भी जीवात्मा छाया की भांति अल्पज्ञ है और परमात्मा धूप की भांति सर्वज्ञ है। परन्तु जीवात्मा का अल्प ज्ञान भी परमात्मा का ही है, जैसे छाया में अल्प प्रकाश पूर्ण प्रकाश रूप धूप का ही होता है। इस प्रकार परब्रह्म का अनेक रूपों में भोक्ता होते हुये भी उनका भोक्तापन सर्वथा निर्दोष है अर्थात वे भोक्ता होते हुये भी अभोक्ता ही हैं। इस कथन की सिद्धि के लिये दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं - ''विशेषणाच्च''[60] उस परम अक्षर ब्रह्म को संसार से पार होने की इच्छा रखने वालो के लिये ''अभयपद'' बताया गया है तथा उसके बाद रथ के दृष्टांत में जीवात्मा को रयी और उस परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्तव्य परमधम के नाम से कहा गया है। इस प्रकार उन दोनों के लिये अलग-अलग विशेषण होने से भी यही सिद्ध होता है कि यहां जिनको गुहा में प्रविष्ट बताया गया है, वे जीवात्मा और परमात्मा ही है।

ब्रहमसूत्र के तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में 11 से 26 वे सूत्र में ब्रह्म के सर्वान्तर्यामी, निर्गुण तथा सगुण एवं ब्रह्म में अभेद के स्वरूप का वर्णन किया गया है। श्रुतियों में ब्रह्म को कहीं निर्गुण निर्विशेष कहा गया है। कहीं पर सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वसाक्षी तथा सभी जीवों की उत्पत्ति एवं नाश का कारण कहा गया है, अतः उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? तथा हृदय आदि जिन स्थानों में परमात्मा की स्थिति बतायी गयी है, उनके दोषों से वह प्रभावित होता है या नहीं? इस जिज्ञासा के पश्चात् कहते हैं:-

''न स्थनतोऽपि परस्योभयलिङ्गंः सर्वत्र हि''[61]

कठोपनिषद् में कहा गया है कि ''आणोरणीयान् महतो महीयानात्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्'' अर्थात् इस जीवात्मा के हृदयरूप गुहा में रहने वाला परमात्मा छोटे से छोटा तथा बड़े से बड़ा है। वह ब्रह्म बैठा हुआ ही दूर चला जाता है सोता हुआ ही सब ओर चला जाता है। वह जीवात्मा के साथ उसी हृदय गुहा में स्थित है। वह समस्त धर्मो, से रहित भूत और भविष्य का शासक हैं। उस पर ब्रह्म में नाना भेद नहीं हैं। उसके भय से अग्नि आदि देवता अपने-अपने कार्यों में संलग्न रहते हैं। इसी प्रकार अन्य श्रुतियों में जहां निर्विशेष बताया है वहीं नाना प्रकार के दिव्य गुणों से युक्त भी बताया गया है तथा वे दिव्य गुण जीव और प्रकृति दोनों से विलक्षण हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये दिव्य गुण जीवात्मा के हैं या जड़ प्रकृति के बल्कि दोनों से विलक्षण हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ये दिव्य गुण जीवात्मा के हैं या जड़ प्रकृति के या उपाधि के कारण परब्रह्म स्वभाव से ही दोनों प्रकार के लक्षणों वाला हैं, अर्थात् वह सब प्रकार के दोषों से रहित निर्विशेष तथा समस्त

दिव्य गुणों से सम्पन्न है, इसलिये सर्वत्र व्याप्त और सभी जीवों के हृदय में रहते हुये वह उन-उन वस्तुओं और स्थानों के दोषों से प्रभावित नहीं होता हैं। उसमें परस्पर विरोधि लक्षण एक साथ रह सकते हैं, क्योंकि वह सर्वशक्तिमान तथा सांसारिक पदार्थो से विलक्षण है। लौकिक वस्तुओं से उसकी तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाणी एवं बुद्धि के परे है। वेद ने ब्रह्म को दोनों लक्षणों से युक्त बताकर उसकी अपार महिमा को लक्ष्य कराया है। इसी बात को और दृढ़ करते हुये दूसरे सूत्र प्रस्तुत करते हैं :-

"न भेदा दिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात्" ।[62]

यह कहा जाय कि जहां ईश्वर को सभी गुणों से सम्पन्न बताया गया है, वहां माया विशिष्ट कार्य ब्रह्म या अपर ब्रह्म का वर्णन है तथा जहां निर्विशेष बताया गया है, वहां परब्रह्म का वर्णन है, इस प्रकार दोनों का अलग-अलग वर्णन होने से दोनों लक्षण एक के नहीं हैं।" तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामिब्राह्मण में पृथ्वी से लेकर जीवात्मापर्यन्त सबका अन्तर्यामी और अमृत एक ही ब्रह्म को बताया गया है। प्रत्येक श्रुति-वाक्य में एक ही परब्रह्म को दोनों प्रकार के लक्षणों से युक्त कहा गया है। उससे भिन्न अपर ब्रह्म का वर्णन नहीं है, इस लिये यह कहना उचित नहीं है कि पर और सगुण-साकार है। दोनों लक्षणों से युक्त होना उसका स्वभाव है, किसी उपाधि या कार्य-कारण भेद से नहीं। श्रुति के ही प्रमाण से पुनः एकत्व को दृढ़ता प्रदान करते हैं- "अपि चैवमेके"[63]

परब्रह्म को तैत्तिरीयोपनिषद् में सत्य, ज्ञान और अनन्त बताकर उसी से समस्त जगत की उत्पत्ति बतायी गयी है तथा यह भी बताया गया है कि उसने स्वयं अपने को ही इस रूप में बनाया है" तथा उसको रस स्वरूप और सबको आनन्दयुक्त करने वाला कहा हैं। पिफर उसके निर्विशेष लक्षणों का वर्णन करके उस ब्रह्म में स्थिति लाभ करने वाले साधक का निर्भय पद में स्थित होना कहा है। इस प्रकार तैत्तिरीय शाखा के मंत्रों द्वारा भी उस एक ही परमात्मा के दोनों प्रकार के लक्षणों का वर्णन होने से भी एक ही परमेश्वर का निगुर्ण और सगुण रूप होना सिद्ध होता है। उसी बात को सिद्ध करने के लिये दूसरा कारण प्रस्तुत करते है- "अरूपवदेव ही तत्प्रधानत्वात्"[64]

जिस प्रकार ब्रह्म को निर्गुण बताने वाले वेद वाक्य मुख्य है, उसी प्रकार उसे सगुण बताने वाले वेद वाक्य भी प्रधान है, किसी एक को मुख्य एवं दूसरे को गौण नहीं कहा जा सकता क्योंकि एक की प्रकरण में और एक ही मंत्र में ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए उसे दोनों लक्षणों वाला बताया गया है। अतएव निर्गुण-निर्विशेष लक्षणों की भांति ही सगुण-सविशेष रूप की भी प्रधानता होने के

कारण यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म दोनों लक्षणों वाला है। इसी बात को अब दूसरे दृष्टान्त से सिद्ध करते है- ''प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्''[65]

जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि ज्योतियों के दो रूप यथा प्रगट एवं अप्रगट होते हैं, और दोनों ही सार्थक होते हैं उसी प्रकार ब्रह्म के भी दोनों रूप सार्थक होते हैं। दोनों में से किसी एक को प्रधान और दूसरे को गौण मान लेने पर उसकी सार्थकता नहीं होगी। श्रुति के वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि वे स्वतः प्रमाण्य है और श्रुति में दोनों लक्षणों का वर्णन होने से वेद वाक्यों की सार्थकता के लिये ब्रह्म के सविशेष और निर्विशेष दोनों लक्षणों से मानना ही उचित है।

अब श्रुति में प्रतित होने वाले विरोध का दो सूत्रों द्वारा समाधान किया जाता है - ''आह च तन्मात्र्म्''[66] तैत्तिरीय श्रुति में ''सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'' ब्रह्म को केवल ज्ञान स्वरूप ही बताया है, सत्य संकल्पत्व आदि गुणों वाला नहीं बताया, अतः उसको दोनों लक्षणों वाला नहीं माना जा सकता। ऐसी बात नहीं है किन्तु ''दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते''[67] पूर्वोक्त मंत्र में आगे चलकर ब्रह्म को सबके हृदय में निहित तथा उसी से समस्त जगत् की उत्पत्ति करने वाला बताया है, पिफर उसे रस स्वरूप, सबको आनन्द देने वाला और सबका संचालक कहा है। इसलिये श्रुति को केवल निर्गुणपरक मानना उचित नहीं है। इसी प्रकार स्मृतियों में भी ब्रह्म के दोनों रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। जैसे- श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय में क्षर और अक्षर का लक्षण बताकर यह कहा गया है कि उत्तम पुरूष इन दोनों से भिन्न है, जो कि परमात्मा नाम से कहा जाता है जो तीनों लोको में प्रविष्ट होकर सबको धरण करता है तथा जो सबका ईश्वर एवं अविनाशी है। इस प्रकार के बहुत से बचन स्मृतियों में पाये जाते हैं जो ब्रह्म के सगुण रूप का वर्णन करते हैं। इसी तरह श्रुति एवं स्मृतियों में ब्रह्म के निर्गुण रूप का भी वर्णन पाया जाता है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म दोनों प्रकार के लक्षणों वाला है। ब्रह्म का सगुण रूप उपाधिभेद से नहीं बल्कि स्वाभविक है, इसी को सिद्ध करने के लिये दूसरा प्रमाण प्रस्तुत करते हैं:- ''अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्'' सभी भूतों का आत्मा परब्रह्म एक है, तथापि वह भिन्न-भिन्न, प्राणियों में स्थित है, अतः जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा की तरह एक और अनेक रूप से भी दिखाता है। इस दृष्टांत से यह बताया गया है कि वह सर्वान्तिर्यामी ब्रह्म सगुण और निर्गुण भेद से अलग-अलग नहीं बल्कि एक हीं है, तथापि प्रत्येक जीवों में अलग-अलग दिखायी दे रहा है। यहां दृष्टांत से यह दिखाया जा रहा है कि जैसे सूर्य एवं चन्द्रमा में प्रकाश गुण स्वाभाविक है, उपाधि से नहीं है। उसी प्रकार ब्रह्म में सत्य-संकल्पत्व, सर्वज्ञत्व एवं सर्वव्यापकता स्वाभविक है, उपाधि से नहीं हैं। दूसरा यह भाव दिखाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब

जल में अलग-अलग दिखाता हुआ भी एक है, उसी प्रकार ब्रह्म भी सभी प्राणियों में अन्तर्यामी रूप से अलग-अलग स्थित होता हुआ भी एक ही है तथा वह उनके दोषों एवं गुणें से अलिप्त है। प्रतिबिम्ब के दृष्टांत से यह भ्रम हो सकता है कि ब्रह्म भी प्राणियों में प्रतिबिम्ब की भांति मिथ्या है, अतः इस भ्रम को दूर करने हेतु दूसरा सूत्र कहते हैं :- ''अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम्''[69]

यहां दृष्टांत का केवल एक अंश लेकर समझाना चाहिये कि ब्रह्म एक होकर भी अनेक सा दिखाता हैं, वास्तव में वह अनेक नहीं है, तथापि सर्वशक्तिमान होने से अलग-अलग प्राणियों में एक रूप से स्थित है। यदि ऐसी बात है तो प्रतिबिम्ब का दृष्टांत क्यों दिया गया? इस जिज्ञासा के समाधान हेतु कहते है:-

''वृद्धिह्रासभाक्त्वमंतर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम्''[70]

उपमेय वस्तु के किसी एक अंश की समानता को लेकर दी जाती है। पूर्णतया एकता होने पर उपमा नहीं कही जा सकती, अपितु वास्तविक वर्णन हो जायेगा। यहां इस दृष्टांत का आशय यही है कि जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल में रहते हुये भी जल के धटने-बढ़ने आदि विकारों से सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म सब में रहता हुआ भी निर्विकार रहता है, उनके किसी भी विकार में लिप्त नहीं होता। इसलिये यह शंका नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म की सभी प्राणियों में स्थिति चन्द्रमा. के प्रतिबिम्ब की भांति अवास्तविक है। पुनः उसी भ्रम की निवृत्ति के लिये सूत्र प्रस्तुत करते हैं:- ''दर्शनाच्च''[71] श्रुति में दूसरे दृष्टांत भी देखे जाते हैं जिससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्ब की भांति अवास्तविक नहीं हैं। जैसे - कठोपनिषद् में कहा गया है कि, जिस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में एक ही अग्नि अनेक रूपों में उनके समान रूपवाला हो रहा है, उसी प्रकार सभी जीवों का अन्तरात्मा ईश्वर एक होता हुआ भी अनेक रूपों में प्रत्येक के रूप के सदृश हो रहा है तथा उनके बाहर भी है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त दूसरे दृष्टांत जो ब्रह्म के सत्यत्व का प्रतिपादन करते हैं वेद में देखे जाते हैं। इसलिये जीवों में उस ब्रह्म की स्थिति प्रतिबिम्ब की भांति आभास नहीं बल्कि सत्य है। अतएव ब्रह्म को सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार के लक्षणों वाला माननाही युक्ति संगत है।

इसके पश्चात यह जिज्ञासा होती है कि वेद में ब्रह्म को दोनों प्रकार बताकर जो अन्त में ''नेति-नेति'' कहा गया है, इन निषेधात्मक श्रुतियों का क्या अभिप्राय है? इसके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं :-

''प्रकृततैतावन्तं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः''[72]

वृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त दो रूप बताकर प्रकरण को आरम्भ किया गया है। वहां भौतिक जगत में पृथ्वी, जल और तेज को उनके कार्य सहित मूर्त बताया है तथा वायु और आकाश को अमूर्त कहा है। उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत में प्राण और हृदयाकाश को अमूर्त तथा उससे भिन्न शरीर और इन्द्रिय को मूर्त बताया है। मूर्त को नाशवान किन्तु प्रत्यक्ष उपलब्ध होने के कारण सत् तथा अमूर्त को अमृत अर्थात् नष्ट न होने वाला बतलाया है। इस प्रकार ब्रह्म के साकार और निराकार रूपों का वर्णन करके फिर "नेति-नेति" कहा गया है अर्थात् इतना ही नहीं। इससे बढ़कर कोई उपदेश नहीं है। इसके पश्चात यह बतलाया गया है कि उस परम तत्व का नाम सत्य का सत्य है, वह जीवात्मा सत्य है और उसका भी सत्य वह ब्रह्म है। इस साकार रूप का वर्णन करके यह भाव दिखाया गया है कि इनमें जड़ अंश अपरा प्रकृति का विस्तार है, और जो चेतन है, वह जीवात्मा रूप उसकी पराप्रकृति है और इन दोनों सत्यों का आश्रयभूत वह ब्रह्म है जो इनसे भी श्रेष्ठ है। अतः यहां नेति-नेति श्रुति सगुण ब्रह्म का प्रतिषेध करने के लिये नहीं है, बल्कि वह इतना ही है, इस परिमित भाव का निषेध करके उस ब्रह्म की असीमता-अनन्तता सिद्ध करने के लिये है। इसीलिये नेति-नेति के द्वारा सत्य के सत्य ईश्वर का होना रूप प्राकृत मन, बुद्धि और इन्द्रियों से परे है, इस भाव को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं :- "तद व्यक्तमाह हि"[73] जिस प्रकार से निर्गुण-निराकर ब्रह्म मन-इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है उसी प्रकार सगुण-साकार ब्रह्म भी इन प्राकृत मन, इन्द्रिय आदि का विषय नहीं है, क्योंकि उसको भी श्रुतियों में अव्यक्त कहा गया है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ब्रह्म का किसी भी अवस्था में प्रत्यक्ष दर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि "आपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"[74]

श्रुति एवं स्मृतियों में जहां सगुण और निर्गुण ब्रह्म को इन्द्रियों का अविषय बताया गया है, वहीं यह भी बताया है कि वह परमात्मा नामजप, स्मरण, ध्यान आदि द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला भी है, (मु0उ03/1/8, श्वेता01/3/10, 2/15 तथा श्रीमाद्भगवतगीता 11/54 में इस तरह के प्रकरण हैं) वेद और स्मृतियों के इस तरह के वचनों में उस सगुण-निर्गुण रूप ब्रह्म को आराध्ना के द्वारा प्रत्यक्ष होने वाला बताया गया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। आराधना से ही जानने में आता है, इस कथन से तो यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म निर्विशेष ही है और केवल भक्त के लिये आराध्ना काल में सगुण होता है, ऐसी शंका होने पर कहते हैं - "प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्"[75] जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि तत्व उष्णता आदि गुणों से युक्त है, जब उनका वह रूप प्रकट हो, उस अवस्था में भी वे उन-उन स्वाभाविक गुणों से युक्त है और जब प्रकट न

हो उस समय भी वे उन गुणों से युक्त हैं। उसी प्रकार वह ब्रह्म भी उपासना द्वारा प्रत्यक्ष होने के कारण जिस प्रकार सभी गुणों से सम्पन्न है, वैसे ही अप्रकट अवस्था में भी है, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकरण को समाप्त करते हुये अन्त में कहते हैं:- "अतोक्रनन्तेन तथा हि लिंगम्"[76] पूर्वोक्त कारणों से यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म सत्य संकल्पता सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, आनन्द, निर्विकारता आदि गुणों से सम्पन्न और निर्विशेष- समस्त गुणोंसे रहित भी है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही लक्षण मिलता है।

ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के तीसरे पाद में 11 से 18 के अन्तर्गत ब्रह्म के स्वरूप की विवेचना करते हुये पूर्व में किये गये वर्णन का उपसंहार किया गया है। "आनन्दादयः प्रधानस्य"[77] आनन्द, सर्वज्ञत्व, सर्वगतत्व आदि जितने भी ब्रह्म के धर्म हैं, वे यदि श्रुति में एक जगह ब्रह्म के वर्णन में आये हैं तो दूसरी जगह भी ब्रह्म के वर्णन में उनका उपसंहार किया जा सकता है। अर्थात् जो धर्म एक स्थान के वर्णन में छूट गये हों, उनकी पूर्ति अन्य जगह के वर्णन से कर लेनी चाहिये। तैत्तिरीपोपनिषद् में आनन्दमय आत्मा के प्रकरण में कहा गया है कि प्रिय ही उसका सिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बाया पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है। इसके अनुसार "प्रियशिरस्त्व" आदि धर्मों का भी सर्वत्र ब्रह्मविद्या में संग्रह हो सकता है। इस प्रकार की शंका होने पर कहते हैं - "प्रिय शिरस्त्वसद्य प्राप्तिरूपचयापचयौ हि भेदे"[78] प्रिय को सिर, मोद और प्रमोद को पंख आदि पक्षी का रूपक देकर जो अंगों की कल्पना की गयी है यह ब्रह्म का स्वरूपगत धर्म नहीं है। अतः इसका संग्रह दूसरी जगह ब्रह्म के लिये करना उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकार अंग-प्रत्यंग के भेद से ब्रह्म में भेद मान लेने पर उसमें बढ़ने-धटने के दोष की आशंका होगी, इसलिये जो ब्रह्म के लक्षण न हों किसी रूपक के उद्देश्य से कहे गये हो, उनका दूसरी जगह नहीं लेना चाहिये। उसमें आनन्द और ब्रह्म शब्द को दूसरी जगह लेना चाहिये या नहीं? इस जिज्ञासा पर कहते हैं - "इतरे त्वर्थसामान्यात्"[79]

उपमा के लिये अवयव की कल्पना से युक्त जो प्रियशिरस्त्व आदि धर्म हैं, उनको छोड़कर जो आनन्द आदि स्वरूपगत धर्म हैं, उनका संग्रह प्रत्येक ब्रह्म विद्या के प्रसंग में किया जा सकता है, क्योंकि उनमें अर्थ की समानता है अर्थात् उन सबके द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही है। इस उपमा की कल्पना किस उद्देश्य से की गयी? इस प्रकार कहते है - "अध्यानाय प्रयोजनाभावात्"[80]

इस उपमा का कोई दूसरा प्रयोजन दिखायी नहीं देता, इसलिये यही समझना चाहिये कि पहले जिस ब्रह्म को सत्य, ज्ञान और अनन्त के नाम से वर्णन

करके उसको सबके हृदय में स्थित बतलाया है, उसको प्राप्त करने का एकमात्र उपाय बारम्बार चिन्तन करना है, लेकिन उसके स्वरूप की कुछ जानकारी न होने पर चिन्तन नहीं हो सकता, अतः वह किस प्रकार सबके हृदय में व्याप्त है, यह बात समझाने के लिये यहां अन्नमय आदि कोशवाचक शब्दों के द्वारा प्रकरण उठाया गया है क्योंकि किसी पेटी में बंद कीये हुए रत्न की भांति ब्रह्म सबके हृदय में छिपा है, यह तत्व समझाना है। सबसे पेटी में बन्द किये हुये रत्न की भांति ब्रह्म सबके हृदय में छिपा है, यह तत्व समझाना है। अन्नमय स्थूल शरीर को पुरूष के नाम से, उसके अंगो की पक्षी के अंगो से तुलना करके आगे का प्रकरण चलाया गया तथा क्रमशः एक का दूसरे को अन्तरात्मा बताते हुये प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरूष का वर्णन किया गया। साथ ही प्रत्येक का आत्मा एक ही तत्व को स्वीकार किया गया। इससे यह जानकारी होती है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्व के भीतर दृष्टि ले जाकर उस एक ही अन्तरात्मा को लक्ष्य कराया गया है। अन्त में सबका अन्तरात्मा आनन्दमय को बतलाकर तथा उसका अन्तरात्मा भी उसी को बतलाकर इस रूपक की परम्परा को समाप्त कर दिया गया। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म का भली-भांति चिन्तन करने के लिये उस क्षुक्ष्म तत्व को समझना ही इस रूपक का प्रयोजन है। यहां यह निश्चय कैसे हो सकता है कि आनन्दमय से ब्रह्म को ही लक्ष्य कराया गया है, अन्य किसी तत्व को नहीं। इस पर कहते हैं- ''आत्मशब्दाच्च''[81] उपरोक्त प्रकरण में बारम्बार सबका अन्तरात्मा बताते हुये अन्त में विज्ञानमय का अन्तरात्मा आनन्दमय को बतलाया है। उसके बाद उसका अन्तरात्मा दूसरे किसी को नहीं बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि यहां आनन्दमय शब्द ब्रह्म का ही वाचक है। आत्मा शब्द का प्रयोग अधिकतर जीवात्मा का ही वाचक होता है, फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि ''आत्म'' शब्द ब्रह्म का वाचक है? इसके लिये कहते है - ''आत्म गृहीतिरितरवदुत्तरात्''[82] जिस प्रकार ऐतरेवोपनिषद् में कहा गया है कि -

''आत्मावा इदमेक मेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चनयिशत् स ईक्षत लोकान्नु सृर्जे पहले यह एक आत्मा ही था, उसने लोकों की रचना करने की इच्छा की। इस श्रुति में प्रजा की सृष्टि के प्रकरण को लेकर ''आत्मा'' शब्द का प्रयोग हुआ है, इसलिये यहां ''आत्मा'' शब्द को ब्रह्म का वाचक माना गया है। उसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में भी आनन्दमय का वर्णन करने के पश्चात् तत्काल ही सोक्ककामयत् बहुस्याम् - ''उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाउँ।'' आदि वाक्यों द्वारा उस आनन्दमय आत्मा से समस्त जगत के उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। अतः बाद में आये हुये इस वर्णन से ही यह सिद्ध हो जाता है कि यहां ''आत्मा'' शब्द परमात्मा

का हीं वाचक है, और आनन्दमय नाम भी उस ब्रह्म का ही है। इसी बात को और दृढ़ता प्रदान करते हुये कहते हैं कि -

"अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्"[83]

तैत्तिरीय श्रुति में केवल आत्मा शब्द के प्रयोग से "आनन्दमय" को ही ब्रह्म कैसे माना जाय इसके उत्तर में कहते हैं कि जिस "आत्मा" शब्द की सभी वाक्यों में व्याप्ति है, वह ब्रह्म का वाचक नहीं है, अपितु अन्त में जिसको निर्धारित कर दिया गया है, वह ब्रह्म का वाचक हैं। इस प्रकार यहां आनन्दमय को पूर्णरूप से परमात्मा निश्चित कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द ब्रह्म का वाचक है। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" वाक्य द्वारा बतलाया हुआ ब्रह्म ही यहां अन्नरसमय पुरूष है या उससे भिन्न? इस जिज्ञासा पर कहते हैं - "कार्याख्या नाद पूर्वम्"[84] इस प्रकरण में जिस अन्नरसमय पुरुष का वर्णन है, वह ब्रह्म नहीं हो सकता, किन्तु अन्न का परिणमभूत यह सजीव मनुष्य शरीर ही यहां अन्न रसमय पुरूष के नाम से कहा गया है, क्योंकि इस पुरूष को ब्रह्म का आकाशादि के क्रम से कार्य बतलाया गया है और इसका अन्तरात्मा प्राणमय आदि के क्रम से विज्ञानमय जीवात्मा को बतलाया है तथा विज्ञानमय का आत्मा ब्रह्म को बतलाकर अन्त में आनन्द के साथ उसकी एकता की गयी है। इसलिये जिनके सत्य, ज्ञान और अनन्त ये लक्षण बताये गये है तथा जो आत्मा और आनन्दमय नाम से जगत् का कारण बताया गया है, वह ब्रह्म इस अन्न रसमय पुरूष से भिन्न सबका अन्तरात्मा है। जीव का स्वरूप एवं ब्रह्म से अभेद अद्वैत वेदान्त में अविद्यायुक्त आत्मा को ही जीव कहा गया है। अविद्या के कारण ही जीव बन्धन में पड़ जाता है, अन्यथा तात्विक दृष्टि से जीव और ब्रह्म (आत्मा) का अभेद सिद्ध होता है। यह व्यावहारिक दृष्टि है जिसमें बन्धन ग्रस्त होने के कारण जीव का ब्रह्म से भेद स्वीकार किया गया है। जीव की सभी क्रियायें एवं उन कर्मो का पफल अविद्या के अन्तर्गत ही आती है। यहां तक कि शंकराचार्य ने लौकिक एवं अलौकिक (स्वर्गादि) दोनों ही प्रकार के कर्मों के पफल को अविद्याजन्य ही स्वीकार किया है, क्योंकि स्वर्गादि पफल भी समाप्त हो जाने के पश्चात् पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ता है तथा जीव बन्ध्न से मुक्त नहीं हो पाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अविद्या या अज्ञान ही जीव के कर्ता भोक्ता आदि का मूल कारण है तथा जब तक इस अविद्या की निवृत्ति नहीं होती, तब तक वह अज्ञान के वशीभूत होकर अपने कर्म फल को भोगते हुये बन्धन के निविण अन्धकार में पड़ा रहता है। जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुये पञ्चदशी में कहा गया है :-

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित्प्रति बिम्बितः।[85]
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते।।

अर्थात् कूटस्थ में कल्पित की गयी बुद्धि में चेतन का प्रतिविम्ब ही जीव है, क्योंकि बुद्धि में इसी प्रतिबिम्ब के कारण अहम् और इदम् का भेद उत्पन्न होता है तथा इसी भेद ज्ञान के कारण जीव बन्धन में पड़ जाता है। वह सब प्राणों को धारण करता है इसलिये उसे जीव कहते हैं जो इस जगत में कर्म फल के चक्र में पफसा रहता है। यहां प्रतिबिम्ब की भांति, कूटस्थ में कल्पित स्थूल देह रूप धट में स्थित अन्तःकरण या अविद्यशा रूप जल में प्रतीयमान, व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब चिदाभास है। अधिष्ठान कूटस्थ सहित उस चिदाभास को ही जीव कहते हैं।

यहां यह शंका उपस्थित होती है कि रूप सहित आकाश का रूपसहित जल में और रूप रहित लाल गुण का रूप सहित और रूप रहित दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब तो देखा जाता है, परन्तु रूप रहित उपाधि में प्रतिबिम्ब कहीं नहीं दिख पड़ता, इस प्रकार रूपरहित अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों के अप्रत्यक्ष अन्तःकरण अथवा अविद्यांश में रूपरहित चेतन का प्रतिबिम्ब सम्भव ही नहीं है। इसके समाधान के लिये कहते हैं कि रूपसहित वस्तु में अवश्य ही प्रतिबिम्ब हो इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, क्योकि नील आदि रूप सहित धट आदि में प्रतिबिम्ब नहीं दिखायी देता। हां, स्वच्छ वस्तु में अवश्य प्रतिबिम्ब दिखायी देने का नियम है। इसलिये रूप सहित वस्तु प्रतिबिम्ब वाली होगी, रूपवान् होने से यह अनुमान रूपसहित बस्तु में प्रतिबिम्ब का साधक नहीं है। अन्तःकरण या अविद्यांश रूप सहित है, लेकिन पिफर भी अत्वगुण युक्त होने से स्वच्छ हैं। इसलिये उनमें चेतन का प्रतिबिम्ब है।

श्रुतिप्रतिपादित विषय में तर्क असंगत है और दृश्यमान् कल्पनारूप युक्ति पुरूष की बुद्धि से कल्पित है, अतएव, श्रुति प्रतिपादित विषय में उसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसलिये ''रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'' छायातपौ ब्रहविदो वदन्ति'' इत्यादि श्रुतियों से ही चिदाभास सिद्ध है। प्राण धारण को ही जीवन कहा गया है। प्राण के निकलने के पश्चात जो स्थित नहीं रह सकती और प्राण के शरण में रहने के कारण जिन्हें प्राण कहा जाता है, उन वाणी आदि इन्द्रियों की शरीर में स्थिति का कारण प्राण धारण है। जीव और कूटस्थ के अन्योन्याध्यास की विवेचना करते हुये पंचदशी में कहा गया है -

जलव्योम्ना घटाकाशो यथा सर्वस्थित रोहितः।[86]
तथा जीवेन कूटस्थः सोऽन्योन्याध्यास उच्यते।।

अर्थात् जिस प्रकार जलाकाश के द्वारा घटाकाश ढका रहता है, उसी प्रकार जीव से कूटस्थ आवृत्त रहता है, इसका नाम अन्योन्याध्यास है। यहां पर प्रश्न उठता है कि जब कूटस्थ जीव से भिन्न हैं, तब वह प्रतीत क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में कहते हैं कि वह जीव से ऐसे ढका रहता है जैसे जलाकाश से घटाकाश, और इस तिरोधान का नाम भाष्य आदि में "अन्योन्याध्यास" बताया गया है। जीव अपने जिस अविवेक के कारण कूटस्थ को नहीं पहचानता, उस अनादि काल के अविवेक को जो कार्य अज्ञान है, "मूला विद्या" कहते है, और इसी अविद्या से अन्योन्याघ्यास की उत्पत्ति होती हैं।

अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध सूत्र "ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैवनापरः" में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है कि वह ब्रह्म से अलग नहीं है, लेकिन यह कथन तात्विक दृष्टि से ही सत्य है, जबकि व्यावहारिक स्तर पर आत्मन् और जीव में वही अन्तर है जो चित् और जड़ में है। जीव या व्यक्ति की आत्मा उसकी स्मृतियों, साहचर्यो, इच्छाओं और अनिच्छाओं, आकांक्षाओ और उद्देश्यों का संघात् है। इस संधत को विज्ञानात्मन कहा जा सकता है जो स्पष्ट ही परिवर्तनशील है यह अहं प्रत्यय है, मनोवैज्ञानिक-आत्मा है- जो हमारे अंतर्निरीक्षण की वस्तु है। इसी को जीव कहा गया है। जीव सभी कार्यों का कर्ता एवं भोक्ता है। यह अपने सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का शासक है तथा इसी को अपने कर्मों का पफल प्राप्त होता है। यह जीव वस्तुतः आत्मन् नहीं बल्कि उससे भिन्न है। शंकराचार्य बहुत सावध ानी से दो प्रकार की आत्माओं में भेद करते हैं। एक वह आत्मा जो हमारे सभी अनुभवों में निहित, उनकी पूर्व मान्यता है, और दूसरी वह आत्मा जो अन्तर्निरीक्षण में अनुभव का विषय है। पहली तत्वमीमांसक, "मैं", है तथा दूसरी मनोवैज्ञानिक, "मेरी" है। पहली "निर्विशेष" है और दूसरी विशेष है। पहली अनुभव से परे अनुभवातीत है तथा दूसरी आनुभाविक है। पहली कर्ता और भोक्ता है तथा दूसरी साक्षी है। जिसे हम जीव कहते हैं, वह शुद्ध आत्मान् नहीं है - वह आत्मन् अनात्मन् है, वह ज्ञाता नहीं है- वह ज्ञाता-ज्ञेय है वह सत् नहीं है- सत् और आभास है। यह निरूपाधिक नहीं है। सोपाधिक है। यह सीमित, व्यक्तिकृत आत्मा है। केवल विषयी नहीं है, विषयी-विषय है।

जीव आत्मा का अंश न होकर उसका विवर्त है। यह सम्भव नहीं है कि आत्मन् वास्तव में सोपाधिक, आत्मन् रहते हुये अनात्मन्, शुद्धज्ञाता रूप में ज्ञेय तथा निर्विशेष, विशेष हो सके। शंकराचार्य कहते हैं कि ये जीव वस्तुतः आत्मन् ही है, ब्रह्मन् ही है। ब्रह्म से उपर नहीं है। जीवो ब्रहमैवनापरः। अज्ञानवश (माया के कारण) उस पर उपाधियों को अध्यारोपित कर दिया है। कर्तृत्व उसके स्वभाव में नहीं है।

"तस्माद् उपाधि-धर्माध्यासेन इवात्मन् कर्तुत्वम् न स्वाभाविकम्"[88]। इस प्रकार जीव आत्मन् का अंश न होकर उसका विवर्त है। जीव और उसकी उपाधियां और उपकरण ;अन्तःकरण और बाह्यकरणद्ध अविद्या के कारण है। अविद्या नष्ट हो जाने पर आत्मन् ही रह जाता है। विषय-विषयी, आत्मा-अनात्मा की ग्रन्थि समाप्त हो जाती है। जिस प्रकार अनेक यहां से अवच्छिन्न ध्टाक़ाश अनेक प्रतीत होते है, परन्तु महाकाश एक ही है, उसी प्रकार जीव भी उपाधियों से युक्त होने पर अनेक हैं। अनेक होने के कारण ही जीव कर्ता तथा अपने कर्मों का भोक्ता है। जीव को कर्ता न मानने पर शास्त्र की सार्थकता बाध्ति हो जायेगी, क्योंकि कर्तृत्व न होने से कर्म सम्भव नहीं होगा और कर्मों के न होने से बंध्न नहीं होगा। अतः जीव कर्ता है, किन्तु कर्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि यदि जीव का कर्तृत्व स्वाभाविक मानेंगे तो वह उससे अलग नहीं हो सकता और पिफर मोक्ष की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी। जीव ही माया से प्रभावित होता है, क्योंकि माया जीव को आवरित कर लेती है तथा जीव अविधा के कारण बन्धन में पड़कर दुःखी होता है। जीव और आत्मा का भेद करते हुये ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य के दूसरे अध्याय में कहा गया है

"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वच्च ताभ्यः"[89]

श्रुति में कहीं भी जीवात्मा का वास्तव में उत्पन्न होना नहीं कहा गया है। श्रुति का यह निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्मा की स्वरूप से उत्पत्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त श्रुतियों द्वारा उसके नित्यता का भी प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में सजीव वृक्ष के दृष्टांत से श्वेतकेतु को समझाते हुये उसके पिता ने कहा कि "जीवात्मा नहीं मरता है। इसी प्रकार कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह विज्ञान स्वरूप जीवात्मा न तो जन्म लेता है और न तो मरता है।

ब्रह्मसूत्र भाष्य के इसी अध्याय में जीवात्मा को शरीर के एक देश में स्थित मान लेने से उसको समस्त शरीर में होने वाले सुख-दुःखादि का अनुभव कैसे होगा इसके लिये पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है - "अविरोध्श्चन्दनवत्"[91] अर्थात् जिस प्रकार एक देश में लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुण से सब जगह पफैल जाता है, वैसे ही एक देश में स्थित आत्मा विज्ञान रूप गुण द्वारा समस्त शरीर को व्याप्त करके सुख-दुःखादि का ज्ञाता हो जाता है। इस प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये कि जीव को अणुरूप मान लेने पर उसको शरीर के प्रत्येक देश में होने वाली पीड़ा का ज्ञान होना युक्ति विरूद्ध प्रतीत होता है, क्योंकि जिस प्रकार किसी एक देश में लगाया हुआ या किसी एक स्थान पर रखा हुआ चन्दन अपने गन्ध रूप गुण से सब जगह पफैल जाता है, वैसे ही शरीर के भीतर एक जगह हृदय में स्थित हुआ

जीवात्मा अपने विज्ञान रूप गुण के द्वारा समस्त शरीर में पफैल जाता है और सभी अंगों में होने वाले सुख-दुःखों को जान सकता है। शरीर के एक देश में आत्मा की स्थिति को सिद्ध करने के लिये कहा गया है - "अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमादृधृदि हि"[92] अर्थात् यदि ऐसा कहा जाय कि चन्दन की स्थिति तो एक देश में प्रत्यक्ष है, किन्तु आत्मा की स्थिति शरीर के एक देश में प्रत्यक्ष नहीं है, तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि श्रुति ने आत्मा को हृदय में स्थित बताकर उसकी एक देश में स्थिति स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। जैसे प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है - "हृद्येष आत्मा"[93] अर्थात् यह आत्मा हृदय में स्थित है।

जीवों के कर्मों के अनुसार ही अन्हें पफल की प्राप्ति होती है इस बात की सि(के लिये ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय में कहा गया है- "वैशम्यनेधृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति"[94] अर्थात् परब्रह्म में विषमता या निर्दयता का दोष नहीं आता, क्योंकि वह जीवों शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखकर सृष्टि करता है, तथा श्रुति भी यही बताती है। वृहदारण्यकोपनिषद् के 3/2/13 में कहा गया है-

"पुण्यो वै पुण्येन कमर्णा भवति पापः पापेन।"

अर्थात् निश्चय ही यह जीव पुण्य-कर्म से पुण्यशील होता है - पुण्य योनि में जन्म पाता है और पाप-कर्म से पापशील होकर - पापयोनि में जन्म ग्रहण करता है। इसी प्रकार बृहदारण्यकोपनिषद् के 4/4/5 में कहा गया है- "साधुकारी साध ुर्भवति पापकारी पापो भवति।" अर्थात् अच्छे कर्म करने वाला अच्छा होता - सुखी एवं सदाचारी कुल में जन्म पाता है और पाप कने वाला पापात्मा होता है- पाप योनि में जन्म ग्रहण करके दुःख उठाता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखकर ही परमात्मा उनको कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में उपन्न करते हैं। इसलिये अच्छे न्यायधीश की भांति निश्पक्ष भाव से न्याय करने वाले परब्रह्म पर निर्दयता एवं विषमता का आरोप नहीं लगाया जा सकता है। गीता में भी इस बात की पुष्टि करते हुये कहा गया है कि - "कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्विकं निर्मलं पफलम्"[95] अर्थात् पुण्य कर्म का पफल सात्विक एवं निर्मल बताया गया है। इसी प्रकार भगवान ने अशुभ कर्म करने वाले असुर स्वभाव के लोगों को आसुरी योनि में डालने की बात बतायी है। इन प्रमाणों से परमेश्वर में उपर्युक्त दोषों का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है। इसी बात पर शंका उपस्थित करके उसका निराकरण करते हुये कहते हैं - "न कर्माविभागादिति चेन्ननादित्वात्"[96] उपनिषदों में बार-बार कहा गया है कि जगत् की उत्पत्ति होने से पूर्व एकमात्र सत्व स्वरूप परब्रह्म ही था। इससे सिद्ध है कि उस समय भिन्न जीव और उनके कर्मों का कोई विभाग नहीं था, ऐसी

स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि परमात्मा ने जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखकर ही भोक्ता, योग्य सामग्री के समुदाय रूप इस जगत् की रचना की है, जिससे ईश्वर में विषमता और निर्दयता का दोष न आवे। तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं। श्रुति में कहा गया है - ''धाता यथापूर्वम् कल्पयत्'' परमात्म ने पूर्वकल्प के अनुसार सर्यू, चन्द्रमा आदि जगत की रचना की। इस जड़ चेतनात्मक जगत की अनादि सत्ता सिद्ध होती है। प्रलयकाल में सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मा में विलीन हो जाने पर भी उसकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभाग का अभाव नहीं होता। इससे यही बात सिद्ध है कि जगत् की उत्पत्ति के पहले भी वह अव्यक्त रूप से उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा में है, उसका अभाव नहीं हुआ है। जीव और उनके कर्म प्रलयकाल में ब्रह्म से अविभक्त रहने पर भी उनकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभाग का अभाव नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार इस जगत् का कर्ता ईश्वर ही है। यदि जीव एवं उनके कर्मों को अनादि न माना जाय तो प्रलयकाल में जीवों के पुनरागमन मानने का दोष होगा या प्रलयकाल में सभी जीव अपने-आप मुक्त हो जायेंगे। इससे शास्त्र की हानि होगी, जो सर्वथा अनुचित है। इन सभी वर्णनों से जीवात्मा और यह जगत अनादि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार स्मृति में भी कहा गया है कि जीव समुदाय और प्रकृति ;स्वभाव जिसमें जीवों के कर्म संस्कार रूप में रहते हैद्ध इन दोनों को ही अनादि समझो''[97] इस प्रकार जीव एवं उनके कर्म अनादि सिद्ध होने से उनका विभक्त होना अनिवार्य है।

जीव ही माया से परे जाने का प्रयत्न करता है। माया के व्यक्तिपरक रूप अविद्यश के कारण ही वह देह को ही अपनी सत्ता मानकर, इस संसार चक्र में भटकता रहता है अन्नमय, प्राणमय और मनोमय के जो आवरण जीव पर चढ़े रहते हैं, उन्हें ही आत्मा मान लिया जाता है और अविनाशी आत्मा पर उन्हीं के धर्मों का आरोप हो जाता है। इन्हीं के परिणामस्वरूप परमात्मा ही शान्त और अनेक दिखाई देने लगता है, उसी की जन्म-मृत्यु और कर्ता-भोक्ता जान पड़ता है। इन सभी प्रकार की प्रतीतियों का कारण जीव का अज्ञान ही है। हम भ्रम वश यह मान लेते हैं कि आत्मा का ही इस संसार में आवागमन होता है और जिस जगत में ऐसा होता है वह यथार्थ है। जब तक जीव माया का सूक्ष्म विचार नहीं करता तब तक भ्रम का नाश और आत्मा का अनुभव नहीं होता है। अद्वैत के अनुसार जीव की उत्पत्ति नहीं होती, बल्कि केवल देह और चित्त युक्त उसकी लौकिक सत्ता की उत्पत्ति होती है। देह-चित्त समष्टि और उसकी कारण रूप अविद्या ही जीव का संसार है। अविद्या ही जीव का कारण शरीर है। कारण-शरीर को आनन्दमय कोश भी कहते हैं। सूक्ष्म शरीर की रचना तीन कोशों से हुई है विज्ञानमय कोश, मनोमयकोश और प्राणमय कोश।

स्थूल शरीर अन्नमय कोश है। मृत्यु के समय केवल स्थूल शरीर बदल जाता है। भगवद्गीता में इसकी तुलना वस्त्रों के परिवर्तन से की गयी है। जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने पुराने वस्त्रों को छोड़कर एक नया वस्त्र धारण कर लेता है, उसी प्रकार जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेता है, किन्तु सूक्ष्म एवं कारण शरीर तब तक रहता है, जब तक कि जीव को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

जीव का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुये गौणपाद ने तीन अवस्थाओं का वर्णन किया है, जो जाग्रत, स्वप्न एवं सुशुप्ति हैं। जीव इन तीन अवस्थाओं में धूमता रहता है। जीव वास्तव में ज्ञातृत्वाभिमानी है। जाग्रत के ज्ञातृत्वाभिमानी को विश्व, स्वप्न के ज्ञातृत्वभिमानी को तैजस तथा सुशुप्ति के ज्ञातृत्वाभिमानी को प्राज्ञ कहते हैं। यदि प्रत्येक जीव में तीन ज्ञातृत्वाभिमानी को स्वीकार किया जाय तो उसकी एकता नष्ट हो जायेगी। उसकी स्मृति, उसका व्यक्तित्व तथा उसका दायित्व सिद्ध करते हैं कि वह एक है। अतः ऐसा मानना है कि विश्व, तैजस और प्राज्ञ में एक ऐसा तत्व निहित है जो तीन्नों अवस्थाओं में एकरूप बना रहता है, और अनुभवों की एकता को उत्पन्न करता हैं। यही ततव ब्रह्म है तथा विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ इसी में अध्यस्त हैं।

शंकराचार्य ने अस्मद् और युस्मद् या विषयी और विषय के विवेक से अपने शारीरक भाष्य का प्रारम्भ किया है। उन्होंने जीव को विषयी माना है। पिफर उन्होंने इसके स्वरूप को निर्धारित करते हुये क्रमशः देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, प्राण, कर्तृत्व, भोक्तृत्व तथा ज्ञातृत्व का विचार किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि यद्यपि जीव सभी को देह, इन्द्रिय, मन, अहंकार, बृद्धि, अव्याकृत, कर्ता, भोक्ता तथा ज्ञाता प्रतीत होता है, किन्तु यह जीव का वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह जीव का मायाकृत या औपाधिक रूप है। जीव का वास्तविक रूप ब्रह्म है। उस रूप में वह आत्मा है। जीव के मायाकृत रूप को ही उसका जीत्व कहा जाता है। इसी रूप में वह जन्म और मृत्यु को प्राप्त होता है। इस जन्म-मरण के चक्र को संसार कहा जाता है। पूर्वजन्म के कर्म के अनुसार उसे वर्तमान जन्म में पफल प्राप्त होते हैं। वर्तमान जन्म में यदि इस संसार से मुक्ति मिल गयी तो पिफर जीव मुक्त हो जाता है। यदि मुक्ति नहीं मिली तो संसार चक्र चलता रहता है। सांसारिकत्व ही जीव का लक्षण है। वह परमार्थतः असत् है, किंतु व्यवहारतः सत् है। संसारित नाम, रूप, विकार, कार्य कारण (इन्द्रिय) आदि की उपाध्यिों का संधत हैं। वे सब उपाध्यिां मायाकृत हैं। ये जीव की भिन्न प्रतीति के लक्षण हैं।

संसार चक्र में जीव के तीन प्रकार के शरीर होते हैं। पहला कारण शरीर है जिसे अविद्या कहा जाता है। दूसरा शरीर लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर है जिसमें पंच

महाभूतों को छोड़कर साख्य दर्शन के वर्णित शेष 19 तत्व हैं। तीसरा शरीर स्थूल शरीर है जिसमें सांख्य शास्त्र के वर्णित चौबीस तत्व हैं। स्वप्न अवस्था में जीव का देह स्थूल शरीर नहीं हैं। उस समय उसका सूक्ष्म शरीर रहता है। किन्तु सुषुप्ति में यह शरीर का नाश नहीं होता है। वह स्थूल शरीर के पात के बाद भी रहता है। उससे दूसरा स्थूल शरीर अपने कर्म के अनुसार मिल जाता है। ज्ञान से जब अज्ञान की निवृत्ति होती है, तब जीव के सभी शरीर निवृत्त हो जाते हैं और वह मुक्त हो जाता है।

जीव एवं ब्रह्म का अभेदः- अद्वैत वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म के एकता का प्रतिपादन किया गया है। यह एकता पारमार्थिक दृष्टि से सिद्ध की गयी है। यह जीव की वह स्थिति है जहां जीव की अविद्या का नाश हो जाता है तथा शुद्ध चेतन स्वरूप आत्मा रह जाती है। इस अभेद ज्ञान के प्राप्त होने से जीव मुक्त हो जाता है अर्थात् यह मोक्षावस्था है। जीव को व्यवहार में अपनी इस एकता का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्तिपरक माया या अविद्या के कारण जीव शरीर में होने वाली क्रियाओं को आत्मारोपित समझकर बन्धन में पड़ जाता है। जब तक जीव को ज्ञान नहीं होता तब तक अविद्या (अज्ञान) से ग्रस्त रहता है, तथा जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है, तब उसे जीव एवं ब्रह्म के एकता का ज्ञान होता है। अविद्या नाश एवं ब्रह्म ज्ञान एक ही क्षण धटित होने वाली घटनायें हैं। यही मोक्षवस्था एवं यही परमार्थ ज्ञान है।

ब्रह्म और जीव के अभेद सिद्धान्त से यह स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है कि श्रुतियों में जो उसके नानात्व का वर्णन है, उसकी संगति कैसे हो सकती है? इस पर कहते हैं - ''स्थान विशेषात् प्रकाशादिवत्''[98] अर्थात् जिस प्रकार सभी प्रकाश वस्तु प्रकाश जाति की दृष्टि से एक हैं किन्तु दीपक, ग्रह, नक्षत्र आदि में स्थान और शक्ति का भेद होने के कारण इन सबमें परस्पर भेद एवं नानात्व है, उसी प्रकार परब्रह्म के परा प्रकृति के नाते सब जीव सुदाय अभिन्न हैं तथापि जीवों के अनादि कर्म-संस्कारों का जो समूह है, उसके फलस्वरूप प्राप्त हुये शरीर, वुद्धि एवं शक्ति आदि के तारतम्य से उनमें परस्पर भेद होना असंगत नहीं है। इसी बात को और दृढ़ करते हुये कहते हैं - ''उपपत्तेश्च''[99] श्रुतियों में जगत् की उत्पत्ति से पूर्व एकमात्र परमात्मा की ही सत्ता बतायी गयी है। पुनः उसी से सबकी उत्पत्ति का वर्णन करके उसे सबका अभिन्ननिभितोपादान कारण सिद्ध किया गया है। उसके बाद ''तत्वमसि'' (वह ब्रह्मतू है) आदि वचनों से उस परब्रह्म को अपने से अभिन्न मानकर उसकी उपासना करने के लिये कहा गया है। फिर उसी को भोक्ता, भोग्य आदि से युक्त इस जगत का सृष्टा, संचालक तथा जीवों के कर्मफल भोग एवं बन्ध-मोक्ष की व्यवस्था करने वाला कहा गया है। जीव समुदाय एवं उसके कर्मों को अनादि बताकर

उनकी उत्पत्ति का निषेध किया गया है। इन सब प्रसंगो पर विचार करने से यही सिद्ध होता है कि जीव-समुदाय चैतन्य जाति के कारण तो परस्पर एक या अभिन्न है, परन्तु विभिन्न कर्मजनित सीमित व्यक्तित्व के कारण भिन्न-भिन्न हैं। प्रलयकाल में सब जीव ब्रह्म में विलीन होते है, सृष्टि के समय पुनः उसी से प्रकट होते हैं तथा ब्रह्म की ही परा प्रकृति के अन्तर्गत होने से उसी के अंश हैं, इसलिये वे परब्रह्म से अभिन्न कहलाते हैं तथा वही उनका नियामक है। अभेद को ही सिद्ध करने के लिये अगला सूत्र कहते हैं कि - ''तथान्यप्रतिशेधात्''[100]

श्रुति में जगह-जगह पर ब्रह्म से भिन्न दूसरी किसी सत्ता का निषेध किया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपनी परा और अपरा दोनों शक्तियों से सम्पन्न वह ब्रह्म ही नाना रूपों में प्रकट हो रहा है। उसकी दोनों प्रकृतियों में नानात्व होने पर भी उसमें कोई भेद नहीं है। ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में इसी एकता का प्रतिपादन करने के लिये श्रुतियों का उदाहरण देते हुये कहते हैं- ''इयदामननात्''[101] मुण्डक और श्वेताश्वतरमें जो कहा गया है कि आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनों में से एक तो कर्म-पफल रूप सुख दुःखों को भोगता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है। इसी प्रकार यह जीव शरीर की आसक्ति में निमग्न होकर असमर्थता के कारण मोहित होकर चिन्ता करता रहता है। यदि यह अपने पास रहने वाले सखा परमेश्वर को और उसकी महिमा को देख ले तो तत्काल ही शोकरहित हो जायेगा। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ''मनुष्य् शरीर में परब्रह्म में उत्तम निवास स्थान हृदय गुहा में छिपे हुये और अपने सत्य स्वरूप का अनुभव करने वाले (जीव और ईश्वर) दोनों है, जो कि छाया और धूप की भांति भिन्न स्वभाव वाले हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं। इन सभी स्थलों में जीव और ईश्वर को परिच्छिन्न स्थल-हृदय में स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि इन सभी जगह कही हुई विद्या एक है। इसी प्रकार जहां-जहां उस परब्रह्म परमेश्वर को प्राणियों के हृदय में स्थित बताया गया है, उन सब स्थलों में वर्णित विद्या की भी एकता समझ लेनी चाहिये।

जीव परमार्थ में अपने जिस वास्तविक रूप से सम्पन्न होता है, उसमें पहले की अपेक्षा क्या विशेषता होती हैं? इस जिज्ञासा पर ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य के चौथे पाद में कहा गया है- ''मुक्तः प्रति ज्ञानात्''[102] श्रुतिमें जगह-जगह पर यह प्रतिज्ञा की गयी है कि ''उस परब्रह्म के लोक को प्राप्त होने के बाद यह साधक बन्धनों से छूट जाता है। इसी से यह सिद्ध होता है कि अपने वास्तविक स्वरूप से सम्पन्न होने पर साध्क सब प्रकार के बन्धनों से रहित, सर्वथा शुद्ध, दिव्य, विभु और विज्ञानमय होता है, उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं रहता। पूर्वकाल में अनादि कर्मों के कारण जो प्राप्त शरीर के अनुसार हो रहा था, वह परमधम या परमार्थ में जाने के

बाद सभी बन्ध्नों से मुक्त हो जाता है। यह निश्चय करने के लिये कि साधक उस समय सभी बन्ध्नों से मुक्त हो जाता है। इसके लिये अलग सूत्र प्रस्तुत करते है - ''आत्म प्रकरणात्''[103] अर्थात् उस प्रकरण में जो वर्णन है उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि ''वह ब्रह्मलोक में प्राप्त होने वाला स्वरूप आत्मा है। अतः उस प्रकरण से ही यह सिद्ध होता है कि उस समय वह सब बंधनों से मुक्त होकर परमात्मा के समान परम दिव्य शुद्ध स्वरूप से युक्त हो जाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि ब्रह्म लोक में साध्क की परमात्मा से पृथक स्थिति होती है या उसी में मिल जाता है? इसके निर्णय के लिये कहा गया है :- ''अविभागेन दृष्टत्वात्''[104] श्रुति में कहा गया है कि -

यथोदकं शुद्धं शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम।।[105]

हे गौतमः जिस प्रकार शुद्ध जल में गिरा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार परब्रह्म को जानने वाले मुनि का आत्मा हो जाता है। इसी प्रकार का वर्णन मुण्डक उपनिषद् में करते हुये तृतीय अध्याय के दूसरे भाग में कहा गया है:-

यथामद्यः स्पन्दमानाः समुद्रेक्रस्तं गच्छति नामरूपे विहाय।[106]
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरूषमुपैति दिव्यम्।।

अर्थात् जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपना-अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरूष नामरूप से रहित होकर परात्पर दिव्य पुरूष पर ब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है- सर्वतो भाव से उनमें विलीन हो जाता हैं। जो कोई भी उस पर ब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह ब्रह्म ही हो जाता है। उसके कुल में अर्थात उसके सन्तानों में कोई भी मनुष्य ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता। स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रहमैवभवति नास्या ब्रह्म वित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहा ग्रन्थिभ्यो विमुक्तोक्कमृतो भवति।।[107] वह सब प्रकार के शोक और चिन्ताओं से सर्वथा पार हो जाता है, सम्पूर्ण पाप समुदाय से सर्वथा तर जाता है, हृदय में स्थित सब प्रकार के संशाय, विपर्यय, देहाभिमान, विषयाशक्ति आदि ग्रन्थियों से सर्वथा छूटकर अमर हो जाता है। जन्म-मृत्यु से रहित होता है। इस सम्बन्ध में जैमिनि का मत है:-

''ब्राह्मेण जैमिनिरूप न्यासादिभ्यः[108] अर्थात् जैमिनि के अनुसार वह ब्रह्म के सदृश रूप से स्थित होता हैं, क्योंकि श्रुति में उसके स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, उसे देखने से और स्मृति प्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है। मुण्डकोपनिषद् के तृतीय अध्याय के प्रथम भाग में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते

हुये उन्हें जान लेने का फल बताते हुये जीव एवं ब्रह्म के एकत्व भाव की व्याख्या करने के लिये कहते हैं :-

यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्ण कर्तारमीशं पुरूषं ब्रह्मयोनिम्।[109]
तदा विद्वान पुण्य पापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

अर्थात् जब साधक परमेश्वर की आश्चर्यमयी महिमा की और दृष्टिपात करके उसके सम्मुख जाने वाला दृष्टा (जीव) जब सबके नियन्ता, सम्पूर्ण जगत की सृष्टि करने वाले, दिव्य प्रकाश स्वरूप परब्रह्म परमेश्वर का साक्षत्कार कर लेता है, उस समय वह अपने समस्त पुण्य-पाप रूप कर्मों का समूल नाश करके उससे सर्वथा सम्बन्ध रहित होकर परम निर्मल ज्ञानी भक्त सर्वोत्तम समता को प्राप्त हो जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्य एवं गीता में भी श्रीकृष्ण ने कहा है कि - "इस ज्ञान का आश्रय लेकर मेरे दिव्य गुणों की समता को प्राप्त हुये महापुरूष सृष्टिकाल में उत्पन्न और प्रलयकाल में व्यथित नहीं होते। इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि वह साधक उस परब्रह्म के सदृश दिव्य स्वरूप से सम्पन्न होता है। इस सम्बन्ध में आचार्य "औडुलोमि का मत उपस्थित करते हुये कहते हैं।" "चिचितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडु लोमिः"[110]

शुद्ध चेतन के रूप में स्वरूप का वर्णन करते हुये आचार्य औडुलोमि कहते हैं कि परमार्थ को प्राप्त हुआ मुक्त अपने वास्तविक चैतन्य मात्र स्वरूप से स्थित रहता है, क्योंकि श्रुति में उसका वैसा ही स्वरूप बताया गया है। इस स्वरूप का वर्णन करते हुये वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि :-

"स यथा सैन्धवधनोक्रनन्तरोक्रब्राहय कृत्स्नो रसधन एवैवं वा अरेक्रयमात्मानन्तरोऽवाह्मयः कृत्स्नः प्रज्ञानध्न एव।"[111] जिस प्रकार से नमक का टुकड़ा बाहर-भीतर के भेद से रहित सबका सब प्रज्ञान धन ही है। इसलिये उसका अपने स्वरूप से सम्पन्न होना चैतन्यध्न रूप में ही स्थित होना है। अब आचार्य वादरायण अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुये कहते हैं, "एवमाप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः"[112]

अर्थात् आचार्य जैमिनि के कथनानुसार मुक्तात्मा का स्वरूप परब्रह्म परमात्मा के सदृश दिव्य गुणों से सम्पन्न होता है - यह बात श्रुतियों में कही गयी है तथा आचार्य औडुलोभि के कथनानुसार चेतनमात्र स्वरूप से स्थित होने का वर्णन भी पाया जाता है। इसी प्रकार पहले सूत्र (4/4/4) में जैसा बताया गया है, उसके अनुसार परमेश्वर में अभिन्न रूप से स्थित होने का वर्णन भी मिलता है। इसलिये यही मानना ठीक है कि उस मुक्तात्मा के भावनुसार उसकी तीनों ही प्रकार से स्थिति

हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रुति एवं स्मृतियां सभी ने जीव एवं ब्रह्म की एकता को पारमार्थिक रूप से किसी रूप में निश्चित ही स्वीकार किया है। इससे जीव एवं ब्रह्म में अभेद की सिद्धि होती हैं।

जीव और ब्रह्म की एकता का वर्णन करते हुये पंचदशी के प्रत्यक्तत्व विवेक के अन्तर्गत मुक्ति द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय जीव और ब्रह्म की एकता को बताने के लिये जीव के सत्य ज्ञानादि रूपता को प्रदर्शित करने के लिये आचार्य विद्यारण्यस्वामी सर्वप्रथम जाग्रत आदि अवस्थाओं में होने वाले ज्ञान का अभेद प्रतिपादन करके उस ज्ञान की नित्यता सिद्ध करते है। जाग्रत अवस्था में ज्ञान के अभेद को प्रदर्शित करते हुये कहा गया है :-

शब्द स्पर्शादयों वेद्या वैचिनयाज्जागरे पृथक्।[113]
ततो विभक्ततत्मंविदैक रूप्पान्न भिद्यते।।

जाग्रत अवस्था में वेद्य जो शब्द स्पर्श आदि हैं वे विचित्र होने से परस्पर भिन्न हैं, परन्तु उनसे विवेचित जो उनकी संवित् (ज्ञान) है, वह एक रूप होने के कारण अनेक नहीं होती। देवानुग्रह से युक्त इन्द्रियों से विषयों का ज्ञान जिसमें होता है उसे या इन्द्रियजन्य ज्ञान और इन्द्रियजन्य ज्ञान के संस्कार के आधर काल को जाग्रत कहते हैं, यही जाग्रत अवस्था है। वृत्ति प्रभाकर में वर्णित इस लक्षण वाली जाग्रत अवस्था में वेद्य अथवा संवित् के विषयभूत तथा आकाशादि के गुण रूप में प्रसिद्ध शब्दादि और उनके आश्रयभूत आकाशादि द्रव्य हैं। वेगाय, अश्व आदि की भांति विलक्षण धर्म (जो स्वतंत्र न होकर दूसरे का आश्रित हो उसे धर्म कहते हैं) वाले होने से परस्पर भिन्न हैं परन्तु उन विषयों से बुद्धि द्वारा विचार कर पृथक की हुई जो उन शब्द आदि की संवित् ;ज्ञानद्ध है, वह "ज्ञान-ज्ञान" इस एक ही आकार में भासित होने के कारण, आकाश की भांति परस्पर भिन्न नहीं हैं। जैसे धटाकाश, महाकाश आदि में उपाधि भिन्न होते हुये भी आकाश-आकाश" एक आकार में भासमान आकाश एक ही है, ऐसे ही संवित भी एक ही है। भेद अन्योन्याभाव को कहते हैं। यह भेद एक प्रकार से तो तीन प्रकार का है - सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद। और जीव-ईश, जीवों का परस्पर, जड़-ईश, जड़-जीवन और जड़-जड़ भेद से पांच प्रकार का है। संवित् इन सब प्रकार के भेदों से रहित है। शब्द आदि और आकाश आदि सब अनात्मक वस्तु, संवित की उपाधि हैं जैसे धटापट आदि उपाधियों के कारण ही धटाकाश आदि भिन्न प्रतीत होता है अर्थात आकाश, उपाधि से कल्पित भेद वाला है, स्वाभाविक (सच्चे) भेद वाला नहीं है ऐसे ही संवित् भी

स्वाभाविक भेद से रहित है। ऐसे ही शब्द का ज्ञान, ज्ञान रूप होने के कारण स्पर्श के ज्ञान से भिन्न नहीं होते हैं। जाग्रत और स्वप्न की विलक्षणता और उनकी ज्ञान की एकता को प्रस्तुत करते हुये इसी प्रकरण में कहा गया है :-

तथा स्वप्नऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम्।[114]
तद्भेदोक्तस्तयोः संविदेकरूपा न भिद्यते।।

स्वप्न में भी जाग्रत अवस्था के ही न्याय को बताते हुये कहते हैं, इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों को छोड़ देने पर जाग्रत अवस्था के संस्कारों से उत्पन्न विषय सहित ज्ञान अथवा इन्द्रियों से अजन्य ज्ञान और उसके विषय के आधर काल को स्वप्न कहते हैं। जैसे जाग्रत अवस्था में, विचित्र होने से शब्द, स्पर्श आदि विषय परस्पर भिन्न तो है, परंतु एक रूप होने से उनके ज्ञान में परस्पर कोई भेद नहीं है, स्वप्न में भी ऐसा ही होता है। वहां भी शब्दादि विषय ही भिन्न हैं, उनका ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं है। यहां पर प्रश्न उठता है कि जब जाग्रत और स्वप्न दोनों में ही विषयों का भेद और ज्ञान का अभेद है तो इन दोनों अवस्थाओं में भेद क्या है? इसके समाध ान के लिये कहते है कि स्वप्न में जो परिदृष्यमान वस्तुयें हैं वे प्रतीतिमात्र शरीर वाली होने से चिरस्थायी नहीं हैं, प्रतिभासिक हैं। परन्तु जाग्रत अवस्था में परिदृष्यमान वस्तु समूह, दूसरे समय में दिख पड़ता है अतएव स्थायी है। इसलिये वस्तुओं की स्थिरता और अस्थिरता रूप विलक्षणता के कारण ये दोनों ही अवस्थायें परस्पर भिन्न हैं। परन्तु इन दोनों अवस्थाओं के ज्ञान एक रूप हैं, भिन्न नहीं हैं। क्योंकि दोनों का ज्ञान एक रूप होने से एक रूप है। सुषुप्ति में भी ज्ञान की एकता को प्रदशित करते हुये जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं :-

''सुप्तोत्थितस्य सोशुप्ततमोबोधो भवेत्स्मृतिः।
सा चावबुद्ध विषयावबुदंतत्तदा तमः।।[115]

जाग्रत और स्वप्न दो अवस्थाओं में ज्ञान की एकता सिद्ध करके सुषुप्ति-काल के ज्ञान की जाग्रत-स्वप्न के ज्ञान के साथ एकता सिद्ध करने के लिये पहले सुषुप्ति में ज्ञान के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं:- सुषुप्ति से उठा पुरूष ''सुप्तोत्थित'' है। उसको सुषुप्ति काल के अज्ञान का ''मैनें सोते समय कुछ न जाना'' इस प्रकार का जो ज्ञान है वह स्मृहि रूप ही है, अनुभव रूप नहीं है, क्योंकि यहां अनुभव के कारणों का अभाव है। सुषुप्ति के ज्ञान का विषय से भेद तथा अन्य ज्ञान से अभेद का वर्णन करते हुये कहते हैं :-

स बोधे विषयादिभिन्नोन बोधत्स्वप्न बोधवत्।
एवं स्थानत्रयेऽत्ये संविल्लद्वद्दिनान्तरे।।[116]
मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्पेष्वनेकधा।
नोदेतिनास्तमेत्ये का संविदेशा स्वयंप्रभा।।

वह सुषुप्ति काल का बोध अपने विषय से भिन्न है, बोध से भिन्न नहीं है, जैसे स्वप्न बोध सुषुप्ति काल का अनुभव ज्ञान, अज्ञानरूप विषय से तो भिन्न हो सकता हैं, क्योंकि वह बोध है जैसे धटबोध अपने विषय धूट से भिन्न है। परन्तु जैसे स्वप्न समय का ज्ञान जाग्रत-ज्ञान से भिन्न नहीं है वैसे यह बोध भी जाग्रत, स्वप्न के बोध से भिन्न नहीं है। इस प्रकार जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही संवित् (ज्ञान) है। जैसे एक दिन की जाग्रत आदि तीनों अवस्थाओं में हुये ज्ञान परस्पर भिन्न नहीं है, एक हैं, वैसे अन्य दिनों में हुआ ज्ञान भी एक ही है, और अनेक प्रकार से अतीत, आगामी मास, वर्ष, युग एवं कल्पों में भी संवित् (ज्ञान) एक ही है।

इस ज्ञान की एकता का पफल बताते हुये कहते हैं कि संवित् (ज्ञान) एक है इसलिये यह ज्ञान न उदित होती है और न अस्त होती है, न उत्पन्न होती है न नष्ट होती है। ज्ञान स्वयं अपने उत्पत्ति और विनाश को नहीं जान सकती और दूसरी कोई ज्ञान है नहीं। यह ज्ञान स्वयं प्रकाश रूप है। अपने प्रकाश के लिये दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखती, अपनी सत्ता से ही प्रकाशित होती है। स्वप्रकाश से भासमान संवित् (ज्ञान) सर्व अनात्मवस्तु की प्रकाशिका है। संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है और आत्मा परमानन्द है, इसकी सिद्धि के लिये कहते हैं:-

इयमात्मा परमानन्दः परप्रेमास्पदं यतः।
मानयूबं हि भूया समिति प्रेमात्मनीक्ष्यते।।

अर्थात् यह ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा निरतिशय सुख स्वरूप है क्योंकि इसमें परम प्रीति रहती है। कभी कोई यह नहीं चाहता कि मैं न रहूं। संवित् (ज्ञान) की नित्यता और स्वप्रकाशता इसलिये सिद्ध की कि यह ज्ञान ही आत्मा है। व्यतिरेकी दृष्टांत से आत्मा के नित्य और ज्ञानरूप की सिद्धि होकर सत्य की भी सिद्धि हो गयी। क्योंकि नित्यता से पृथक सत्यता नहीं होती। आचार्य वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि नित्यस्वरूप सत्यत्व जिस वस्तु में हो वह वस्तु नित्य और सत्य है। वह आत्मा परमानन्द है, सबसे सुख रूप है। आत्मानन्द के लेश से ही चींटी से लेकर ब्रह्म तक के सब भूत आनन्दवान् है। उपाधियों से रहित आत्मा में सर्वाधिक प्रीति होती है, इसलिये यह आत्मा परमानन्द हैं। इसके पश्चात इसी प्रकरण में आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया गया है:-

इत्यं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथा विद्यम्।[118]
परं ब्रह्म, तयोचैक्यं श्रुत्यन्तेषूपदिश्यते।।

अर्थात् ''शब्द स्पर्शादिक'' इस तीसरे श्लोंक से सातवें श्लोक तक संवित् की नित्यता सिद्ध करके आठवें श्लोक से वह संवित् (ज्ञान) ही आत्मा है, यह सिद्ध कर देने से आत्मा सत् चित् है यह सिद्ध किया और उसी श्लोक के ''परानन्द'' इत्यादि पद से आत्मा की परमानन्दता सिद्ध की। इस प्रकार ''तत्वमसि'' इत्यादि महावाक्यों में ''त्वम्'' पद का अर्थ सच्चिदानन्द आत्मा है यह सिद्ध होता है। यहां यह शंका होती है कि यदि सच्चिदानन्द रूप आत्मा का भी युक्ति से ही ज्ञान हो जाता है तो उपनिषद् व्यर्थ हो जायेगी। इसके समाधान में कहते हैं कि परब्रह्म सच्चिदानन्द रूप है और महावाक्यों में तत् पद का अर्थ, यही ब्रह्म है। ''तत्-त्वम्'' पदों की एकता, इन दोनों पदों का अर्थ करते हुये ब्रह्मात्मा की अखण्ड एकरसता रूप एकता का उपनिषदों में प्रतिपादन किया गया है, इसलिये उपनिषदें निरर्थक नहीं हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युक्तियों से जीव एवं ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुये सर्वप्रथम जाग्रत, स्वप्न तथा सुशुप्ति तीनों अवस्थाओं में संवित् (ज्ञान) के आधार पर एकता का प्रतिपादन किया गया है। इसके पश्चात ज्ञान के नित्यता का इन्हीं के आधार पर प्रतिपादन किया गया है।

जीव एवं ब्रह्म में अभेद का वर्णन करते हुये कहा गया है कि ''जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है।''[119] अन्ततः जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं है। अज्ञान समाप्त हो जाने पर यह स्पष्ट अनुभूति होती है कि जीव, शरीर या इन्द्रियां या मन नहीं है, बल्कि अद्वैत, सार्वभौमिक आत्मा है ''तत-त्वम् असि''। आत्मानुभूति के बाद स्वयं अपने में स्थित हो, वह स्वयं प्रकाश आत्माभिव्यक्ति है। जीव और ब्रह्म के अभेद का ज्ञान ही ब्रह्म पद की प्राप्ति है। ''तत्-त्वम असि'' इसी अभेद की अभिव्यक्ति है। वस्तुतः यह कहना भी कि जीव, ब्रह्म हो जाता हैं, केवल एक शाब्दिक कथन है - उपचार मात्र है। वह तो सदैव ही ब्रह्म है। अद्वैत आत्मा या ब्रह्मन् अज्ञान वश आनुभविक आत्मायें (जीव) लगने लगता है। शंकराचार्य कहते हैं कि जो भी शास्त्रों की इस प्रकार व्याख्या करता है कि जीव वास्तव में ब्रह्म नहीं है, और जो इस तरह बंधन और मुक्ति के अन्तिम सत्य को बनाये रखना चाहता है वह वास्तव में सबसे निम्न श्रेणी का पण्डित है। बंघन की अवस्था में उपाधियां इस सत्य पर आवरण डाले रहती हैं, मुक्ति की अवस्था में वह ब्रह्मरूप हो जाता है। नया कुछ नहीं घटता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव एवं ब्रह्म में पारमार्थिक दृष्टि से अभेद

ही सिद्ध होता है उपरोक्त सभी ब्याखयाओं में जीव के पारमार्थिक रूप से ब्रह्मसूत्र, अपनिषदों, स्मृतियों आदि में ब्रह्म से अभेद ही दिखाई देता है। अविद्या के आवरण से आवरित होकर वह ब्रह्म ही जीव के रूप में प्रतीत होता है तथा बन्धन में पड़कर अपने वास्तविक स्वरूप ;आत्माद्ध को न जान पाने के कारण अज्ञानवश कर्मपफल का भोग करता रहता है। जीव की अविद्या जब तकनिवृत्त नहीं होती है तब तक वह बंधन में ही पड़ा रहता है। जीव को अपने अज्ञान के नष्ट होने के साथ ही वास्तविक स्वरूप (शुद्ध ज्ञान रूप) का ज्ञान हो जाता है, और वह इस बंधन से सदा के लिये मुक्त हो जाता है। इस अवस्था में ही जीव एवं ब्रह्म का अभेद स्पष्ट हो जाता है जहां साध्क को ''अहंब्रह्मस्मि'' का अनुभव ज्ञान प्राप्त होता है।

माया एवं जगत्:- अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के अतिरिक्त सब कुछ माया के रूप में ही देखा गया है, जो पारमार्थिक मिथ्यात्व के रूप में सिद्ध किया गया है। उपनिषदों से ही अद्वैत वेदान्त का मूल सम्बन्ध है जहां माया को अविद्या के रूप में ही देखा जाता है। यह अविद्या ही ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आवरण कर लेती है तथा विच्छेद के रूप में इस जगत् की प्रतीति होती है जो व्यावहारिक अनुभव सिद्ध होते हुये भी पारमार्थिक रूप में मिथ्या है। यह जगत् माया के विच्छेद रूप होने से ही मिथ्या है जो व्यवहारिक न होकर पारमार्थिक दृष्टि है अर्थात् यह जगत भी माया के रूप में ही देखा जाता है। माया एवं जगत् के स्वरूप को अलग-अलग रूप में निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

माया का स्वरूप :- माया का शाब्दिक अर्थ है, माया - जो नहीं है, अर्थात् जो सत् नहीं है। जो पारमार्थिक रूप से सत् नहीं है वह सब कुछ अद्वैत वेदान्त की माया है। माया एवं अविद्या को समानार्थक ही स्वीकार किया गया है, जबकि कुछ विद्वान् माया को समष्टिरूप एवं अविद्या को व्यष्टिरूप में जीव की उपाधि के रूप में स्वीकार करते हैं। माया की विवेचना करने से पहले शंकराचार्य ने अध्यास का विवेचन करते हुये अध्यास भाष्य लिखा है जिससे माया के स्वरूप को स्पष्ट किया जा सके। शंकराचार्य ने अध्यास की विषद विवचेना की है जिसका संक्षेप में यहां उसके मूल रूप का उल्लेख आवश्यक है। अध्यास किसी वस्तु का किसी अन्य वस्तु में आभास है। ''अध्यासो नाम अतिस्मिस्तद् बुद्धि''[120] शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्ताओं को स्वीकार किया है - स्वप्न, जाग्रत और पारमार्थिक। स्वाप्निक अनुभव का जाग्रत में तथा जाग्रत का पारमार्थिक अनुभूति में बाध हो जाता है। किसी वस्तु के सत्य होने के लिये उसकी अनुभूति आवश्यक है। जिसका अनुभव नहीं होता वह सत्य नहीं हो सकता जैसे बन्ध्यापुत्र हमारे अनुभव में कभी भी नहीं आ सकता है। इस अनुभूति में कोई न कोई विषय अवश्य होनी चाहिये। चाहे वह अनुभव भ्रम ही

क्यों न हो, क्योंकि यदि रस्सी न हो तो उसमें हम शर्प का अनुभव नहीं कर सकते। रस्सी को रस्सी की तरह न पहचान कर उसे शर्प की तरह गलत पहचानते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि एक विषय के लक्षणों का दूसरे विषय पर अध्यारोप हो जाता है। रस्सी पर सर्प के लक्षणों को अध्यारोपित करने से उसे सर्प समझ बैठते हैं। इस प्रकार एक विषय के लक्षणों का किसी दूसरे विषय पर स्थानान्तरण ही भ्रम पैदा करता है और इसी अनुचित स्थानान्तरण का नाम अध्यास है। यह अध्यास सत्ता के प्रतिभासिक और व्यवहारिक दोनों स्तरों पर सम्भव है। रस्सी को सांप समझ बैठना और स्वप्न को यथार्थ समझ बैठना इसी अध्यास के कारण है। यह अध्यारोपण जब तक खण्डित नहीं होता, रस्सी सांप बनी रहती है और स्वप्न यथार्थ बना रहता है। प्रकाश होने पर पाते हैं कि रस्सी पर सांप के गुणों का गलत अध्यारोपण हो गया था। इसी तरह जाग जाने पर हम पाते हैं कि स्वप्न का विषय यथार्थ नहीं था नींद में उस पर यथार्थ का अध्यारोपण हो गया था। "अध्यास के व्यवहारिक स्तर पर हम विषय और विषयी के लक्षणों को एक-दूसरे पर" अध्यारोपित करते हैं व्यवहारिक स्तर पर अनात्मन (विषयी) और अमात्मन् (विषय) पर तथा विषयी और उसके लक्षणों को विषय पर आरोपित कर देते हैं। जब हम कहते हैं कि मैं चलता हूं, मैं गाता हूं, आदि तो स्पष्ट ही हम आत्मन् पर अनात्म वस्तुओं के लक्षण आरोपित कर रहे होते हैं और इसी अध्यारोपण को सही मान लेते हैं। यही अध्यास है। यह अध्यास आत्मन् में अनात्मन् की भ्रान्ति पैदा करती है और अनात्मन् में आत्मन् की भ्रान्ति के उत्पन्न करती है। यह व्यवहारिक स्तर पर जो भ्रान्ति उत्पन्न होती है वह व्यक्तिगत न होकर सार्वजनिक होती है। हम सभी को यह भ्रान्ति समान रूप से होती है। इस भ्रान्ति का व्यवहारिक अनुभव होने से हम सबके लिये मिथ्या न होकर व्यवहार के स्तर पर सत्य होती है। यह व्यवहारिक जगत दीर्धजीवी है। यह रस्सी पर सर्प की भांति प्रकाश होने से खण्डित होने वाला अध्यास नहीं है। इन अनुभव को जो उच्चतर अनुभव (पारमार्थिक) खण्डित कर सके, प्रत्येक को और आसानी से नहीं हो पाता, बल्कि वेदान्त के साध्क को ही एक कठिन साध्ना के पश्चात अद्वैतानुभूति हो पाती है। अध्यास अविधा नहीं है, किन्तु अध्यास का नाश अविद्या से ही हो सकता है। ज्ञान का प्रकाश होते ही अध्यास अपने आप नष्ट हो जाता है।

शंकराचार्य अनिर्वचनीय ख्याति को स्वीकार करते हैं और उसी के आधार पर माया को अनिर्वचनीय कहा है। माया अनिर्वचनीय और अपरिभाष्य है। यह न तो सत् है न असत् है। यह सत् नहीं है क्योंकि इसका अस्तित्व ब्रह्म से पृथक नहीं है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि यह द्रव्यमान जगत् को प्रत्यारोपित करती है। यह वास्तविक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के प्रकट होने पर यह तिरोहित हो जाती है। यह

अवास्तविक भी नहीं है, क्योंकि जब तक बनी रहती है तब तक सत् हैं। इसमें इतनी शक्ति तो है कि यह जगत् को जन्म दे सके परन्तु इतनी शक्ति नहीं कि यह ब्रह्म को प्रतिबन्धित कर सके। यह सत् और असत् दोनों ही नहीं है बल्कि अनिर्वचनीय है।

माया की दो शक्तियां हैं - आवरण और विक्षेप। आवरण से वह ब्रह्म को ढक लेती है और विक्षेप के रूप में इस जगत् की प्रतीति होती है। माया अनादि है क्योंकि यह देश और काल के परे है। यह भावरूप है किन्तु यथार्थ नहीं है। इसे भाव रूप इसलिये कहा गया है कि इस बात को रेखांकित किया जा सके कि माया मात्र अभाव नहीं है। माया के वस्तुतः दो पक्ष है नकारात्मक एवं सकारात्मक नकारात्मक पक्ष में यह ब्रह्म को आवरित कर लेती है, जिसके कारण उसका वास्तविक स्वरूप (आत्मन्) ढक जाता है तथा अपने सकारात्मक पक्ष में यह ब्रह्म का विक्षेप है। ब्रह्म पर अनेकांतिक जगत् का अध्यारोपण हैं, जिससे इस जगत् की प्रतीति होती है।

वेदान्तसार के अन्तर्गत वस्तु पर अवस्तु के आरोप को अध्यारोप के रूप में स्पष्ट करते हुये वस्तु को आत्मन् एवं अवस्तु को अनिर्वचनीय के रूप मे व्याख्या की गयी है। अज्ञान को शास्त्रों में कहीं पर "माया", कहीं पर "अविद्या" और कहीं पर नामरूप कहा गया है। अज्ञान को न तो सत् कह सकते हैं और न तो असत्। यदि अज्ञान को सत् कहा जाय, तो चिदात्मा के समान उसका कभी बाध नहीं होना चाहिये, परन्तु तत्व ज्ञान से उसका बाध हो जाता है, अतः अज्ञान सत् नहीं है। यदि अज्ञान को असत् कहा जाय, तो बन्ध्या पुत्र के समान उसका कभी भाव नहीं होना चाहिये, परन्तु संसार के बंधन में पड़े हुये प्रत्येक मनुष्य को "मैं अज्ञ हूं" इस प्रकार का स्पष्ट मान होता है, अतः अज्ञान असत् भी नहीं है। यदि कहा जाय कि अज्ञान न सद्रूप कहा जा सकता है और न असद्रूप, अतः उसे "सदसदरूप" कहना चाहिये, तो सद्रूपता और असद्रूपता के परस्पर विरूद्ध होने से यह कहना भी असंगत है। इसलिये सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर अज्ञान की अनिर्वचनीयता ही सिद्ध होती है। विवेक चूड़ामणि में इसे इस प्रकार कहा गया है-

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्य भिन्नाप्युभात्मिका नो।[122]
साङ् गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महाद्भूतानिर्वचनीय रूपा।।

वह न सत् है न असत् है और न उभय रूप है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है, और न उभय रूप है। वह न अंग सहित है, न अंग रहित है, और न अभय रूप है। वह तो अत्यन्त अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप वाली है।

त्रिगुणात्कम् :- अज्ञान त्रिगुणात्मक है जिससे उत्पन्न होने वाले तेज, जल और अन्न में क्रमशः लोहित, शुक्ल और कृष्ण गुण होते है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है - "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदयां यत्कृष्णां तदन्नस्य अर्थात जब कार्य लोहित, शुक्ल और कृष्ण इन तीन गुणों वाला है, तो उसका कारण भूत अव्याकृत अज्ञान भी त्रिगुणात्मक ही होगा। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी इन तीनों गुणों को अज्ञान या माया का स्वरूप बताते हुये कहा गया हैः-

अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वहीः प्रजा सृजमानां सरूपाः।[123]
अजोहोको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्त भोगाम जोऽन्यः।।

परवर्ती काल में लोहित को रजस, शुक्ल को सत्व और कृष्ण को तमस कहा जाने लगा। इसलिये त्रिगुणात्मक का अर्थ चाहे "लोहित शुक्ल कृष्णात्मक" किया जाय या "सत्वरजस्तमोगुणात्मक" किया जाय, एक ही बात है। त्रिगुणात्मक कहने से गुण और गुणी के अभेद का बोध होता है। ये तीन गुण ही इनके तीन रंग है। सत्वगुण निर्मल एवं प्रकाशक होने से उसे श्वेत माना गया है। रजोगुणरागात्मक है, एवं उसका रंग लाल माना गया है तथा तमोगुण अज्ञानरूप एवं आवरक होने से उसे कृष्ण वर्ण कहा गया है। माया को परमेश्वर के शक्ति के रूप में कहा गया है जो इस प्रकार हैः-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् दैवात्मशक्तिं स्वगुणौर्निगुढाम्।[124]
यः कारणानि निखिलानितानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।

अर्थात् इस प्रकार आपस में विचार के पश्चात् जब किसी निर्णय पर अनुमान के द्वारा न पहुँच सके, तब उन सबके सब ध्यान योग में स्थित होने पर उन्हें परमात्मा की महिमा का अनुभव हुआ। उन्होंने परब्रह्म की स्वरूपभूत दिव्य शक्ति का साक्षात्कार किया, जो अपने ही गुणों से - सत्व, रंम और तम से ढकी है, अर्थात् जो देखने में त्रिगुणमयी प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में वह तीनों गुणों से परे है। तब वे इस निर्णय पर पहुँचे कि सभी कारणों के जो अधिष्ठाता हैं, वे सब जिनकी आज्ञा से प्रेरणा पाकर, जिनकी उस शक्ति के किसी एक अंश को लेकर अपने-अपने कार्यों के करने में समर्थ होते हैं, वे एक सर्वशक्तिमान परमेश्वर ही इस जगत के वास्तविक कारण हैं। इस प्रकार इस प्रकरण में भी माया को त्रिगुणात्मिका के रूप में विवेचना की गयी है। इसी प्रकार गीता में भी माया को गुणमयी कहा गया है, जो इस प्रकार हैः-

"दैवी होषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"[125]

ज्ञान विरोधि :- अज्ञान ज्ञान का विरोधी है। ज्ञान के द्वारा निवर्त्य होना ही अज्ञान का लक्षण है। अज्ञान के इस लक्षण में अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असम्भव आदि दोष नहीं है। ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञान से निवृत्त होने वाले संसार रूप प्रपञ्च अज्ञानजन्य होने के कारण अज्ञान से अभिन्न है। आत्मा और अज्ञान में भी अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि चिदात्मा का अज्ञान से सम्बन्ध होना पूर्ण रूप से अज्ञान के ही अधीन है। अतः अज्ञानात्मक सम्बन्ध भी अज्ञान रूप ही सिद्ध होता है[127]। ज्ञान का प्रागभाव अपने प्रतियोगी ज्ञान की उत्पत्तिमात्र से ही नष्ट हो जाता है। अतः उसका ज्ञान के द्वारा निवृत होना असिद्ध होता है, परन्तु अज्ञान ज्ञान का प्रागभाव नहीं है क्योंकि ज्ञान उत्पन्न होने के बाद इतनी जल्दी अज्ञान को नष्ट कर देता है कि मानो ज्ञान के उत्पन्न होने के साथ ही अज्ञान नष्ट हो गया हो। भाव और अभाव क्षणमात्र भी एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः अज्ञान प्रागभाव से भिन्न है। अज्ञान के इस निवर्त्यरूप लक्षण में अव्याप्ति और असम्भव रूप दोषों की शंका नहीं उठ सकती है, क्योंकि ज्ञान के द्वारा अज्ञान का बाधित होना लोक और वेद में सर्वत्र प्रसिद्ध है।

भावरूपम् :- अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब अज्ञान भावरूप हो, लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अज्ञान परमार्थ सत् है, क्योंकि तब तो इसकी निवृत्ति ही नहीं हो सकेगी। अज्ञान को भावरूप कहने का अभिप्राय है - उसको अभाव से विलक्षण बताना। जब तक आत्म साक्षात्कार नहीं होता, तभी तक अज्ञान भाव रूप है, आत्म साक्षात्कार होने पर नष्ट हो जाता है।

अज्ञान लौकिक दृष्टि से सत् प्रतीत होता है, युक्तिपूर्वक विवचेन से अनिर्वचनीय जान पड़ता है, आत्मभाव होने पर तुच्छ हो जाता है। वस्तुतः अज्ञान का निरूपण असम्भव है। इसको पञ्चदशी में निम्नलिखित प्रकार से कहा गया हैः-

तुच्छानिर्वचनीया च वास्तवी चेत्यसौविध।
ज्ञेया मायात्रिभिर्बोधैः श्रोत यौक्तिक लौकिकैः।।[128]

अर्थात् वह माया श्रुतिजन्य, युक्तिजन्य और लोक प्रसिद्ध तीनों बोधों से क्रमशः तुच्छ अर्थात् तीनों कालों में असत्, अनिर्वचनीय अर्थात् सत् असत् से भिन्न (मिथ्या) और वास्तवी अर्थात् सत्य, इस प्रकार से तीन प्रकार की जाननी चाहिये। श्रुति माया को तुच्छ बताती है, युक्ति से वह अर्निवचनीय सिद्ध होती है और लौकिक प्राणी उसे वास्तविक (सत्य) मानते हैं। ज्ञान दृष्टि होने पर वह अज्ञानरूप माया सदा के लिये निवृत्त हो जाती है। निवृत्ति का अर्थ बाध है, यह विषय और

विषयी रूप से दो प्रकार का है। जिस बाध का प्रकाश होता है वह विषय और प्रकाश करने वाले बाध का नाम विषयी होता है। जैसे रज्जु में सर्प का त्रिकाल व्यापी व्यावहारिक अभाव है वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म में अविधा और उसके कार्य जगत का त्रिकाल व्यापी पारमार्थिक अभाव है, यह विषय रूप बाध है। "अहं ब्रह्मासि" इस निश्चित तत्वज्ञान के पश्चात् के क्षण में होने वाले "मुझमें तीनों कालों में अविद्या और प्रपञ्च नहीं है" इस आकारवाली वृत्ति, विषयी रूप बाध है क्योंकि यह पूर्वसिद्ध अविद्यादि के अभाव को प्रकाशित करती है। यदि विषय रूप बाध को न माने तो विषयीरूप से निश्चय ही भ्रम में बदल जायेगा, क्योंकि अन्य में अन्य की बुद्धि हो जायेगी। इसलिये विषयरूप बाध को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। यहां निवृत्ति से विषय रूप बाध का ही ग्रहण है।

यत्किंचित् :- चूंकि अज्ञान के सद्रूप, का असद्रूप या सदसद्रूप से निरूपण करना असम्भव है, इसलिये हम उसको "यात्किंचित" ही कह सकते हैं। इसी को बृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है:-

अविद्याया अविद्यात्व मिदमेव तु लक्षणम्।
यत्प्रमाणासहिश्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत्।।[129]

अज्ञेय होना ही अविद्या का लक्षण है। प्रमाणों की कसौटी पर इसको नहीं कसा जा सकता है इसलिये अवस्तु है। यदि यह प्रमाणगम्य होती तो वस्तुरूप हो जाती। वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली में कहा गया है:-

अज्ञानं ज्ञातुभिच्छेद् यो मानेनात्यन्तमूढधीः।
सतु नूनं तमः पश्चेद् दीपेनोत्तमतेजसा।।[130]

अर्थात् अज्ञान को प्रमाण के द्वारा जानने की इच्छा तो वैसी ही है, जैसे दीपक से अन्ध्कर को देखने की इच्छा है। इसी प्रकार इष्ट सिद्धि में कहा गया है-

दुर्धटत्वमविद्याया भूषणं न तु दूषणम्।
कथाञ्चिद् धटमानत्वेऽविद्यात्वं दुर्धट भवेत्।।[131]

अर्थात् अज्ञान की दुर्धटना कोई दोष नहीं है, यह उसका आभूषण है। यदि किसी प्रकार से वह धटित हो जाता, तब तो इसका अज्ञान होना ही दुर्धट हो जाता। ये सब प्रकार की असंगतियां अज्ञान के लिये अलंकार स्वरूप हैं। यद्यपि अज्ञान के यथार्थ स्वरूप को समझना असम्भव है, तथापि उसके अस्तित्व में अनुभव और श्रुति दोनो प्रमाण हैं। सत्य को खोजने के लिये हम प्रयास करते हैं, इसी से पता चलता है कि हमें सत्य के विषय में अज्ञान है। यह अज्ञान हमारे अनुभव का विषय है,

इसीलिये शास्त्रें में इसे साक्षिभाष्य कहा गया है। जड़ होने से यह स्वयं प्रकाश नहीं है, इसका प्रकाशित होना चैतन्य के अधीन है। ''देवात्मशक्तिम्'' आदि श्रुति इस प्रकार हैं :-

श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है :-

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगुढाम्।[132]
यः कारणानि निखिलानि तानि कलात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।

अर्थात् जगत्कारण की मीमांसा करते हुये उन ब्रह्मवादियों ने ध्यानयोग के द्वारा समाहित होकर अपने कार्यभूत पृथ्वी आदि गुणों से ढकी हुई उन परमात्मदेव की आत्मभूता माया शक्ति का साक्षात्कार किया, जो पूर्वोक्तकाल से लेकर आत्मापर्यन्त समस्त कारणों के भी एकमात्र अधिष्ठान हैं। इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि माया या अज्ञान परमात्मा की आत्मभूता शक्ति है। इसीलिये द्वैत की सम्भावना भी निरस्त हो जाती है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में अभेद माना जाता है। यहां पर इत्यादिश्रुतेश्च में आये हुये चकार से स्मृति और अर्थापत्ति को भी अज्ञान के विषय में प्रमाण माना जा सकता है। गीता में इस प्रकार कहा गया है-

ज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुहान्ति जन्तवः।[133]
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमाया समावृतः।।[134]

अर्थापत्ति इस प्रकार है - सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य प्राप्त है और स्वयं प्रकाश है। अतः व्यवहार में ऐसी ही प्रतीती होनी चाहिये, परन्तु व्यवहार में इसके निर्धरित ऐसी प्रतीती होती है कि न तो ब्रह्म है और न भामित हो रहा है। ऐसी प्रतीति आवरणभूत अज्ञान के बिना अनुपपन्न है। यह दृष्टार्थापत्ति है। 2. श्रुतियों में आत्मा के यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त करने के लिये ''श्रोतव्यों मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'' आदि वाक्यों के द्वारा जो श्रवणादि का विधन किया गया है, वह तभी संगत हो सकता है, जब आत्म स्वरूप को आवृत्त करने वाला अज्ञान विद्यमान हो। यह श्रुतार्थापत्ति है। ये दोनों अर्थापत्तियां भी अज्ञान के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं।

श्रुतियों में कहीं पर अज्ञान को एक और कहीं पर अनेक बताया गया है। जैसे - ''अजामेकम्'' में एकत्व और ''इन्द्रोमायाभिः पुरूरूपईयते'' में अनेकत्व कहा गया है। इस विप्रतिपत्ति का समाधन प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि यह अज्ञान समष्टि के अभिप्राय से एक और व्यष्टि के अभिप्राय से अनेक कहा जाता है। जैसे वृक्षों की समष्टि के अभिप्राय से वन है'' इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता

है या जैसे जल बिन्दुओं के समष्टि के अभिप्राय से जलाशय है'' इस प्रकार एकत्व का कथन किया जाता है, उसी प्रकार अनेक प्रतीत होने वाले जीवगत अज्ञानों की समष्टिं के अभिप्राय से उसके एकत्व का कथन किया जाता है। ''अजामेकाम्'' (श्वेता 04/5) आदि श्रुति से यह बात प्रमाणित होती है। अज्ञान की यह समष्टि (माया) उत्कृष्ट उपाधि (ईश्वर की उपाधि) होने के कारण विशुद्ध सत्वगुण के प्राधन्य से युक्त होती है। इसलिये उपहित हुआ चैतन्य समस्त अज्ञान राशि का प्रकाशक होने से सर्वज्ञता, सर्वेश्वरता, सर्वनियामकता आदि गुणों से युक्त, अव्यक्त अन्तर्यामी, जगत का कारण और ईश्वर कहा जाता है। ''जो ईश्वर सामान्य रूप से सब कुछ जानने के कारण सर्वज्ञ और विशेष रूप से सबको जानने के लिये सर्ववित् है''[135] इत्यादि श्रुति से यही बात सिद्ध होती है। ईश्वर की यह समष्टि सम्पूर्ण सृष्टि का कारण होने से ''कारणशरीर'' कही जाती है, आनन्द के प्राचुर्य से युक्त होने के कारण और कोश के समान आच्छादक होने के कारण ''आनन्दमयकोश'' कही जाती है सभी का विलय स्थान होने के कारण ''सुशुप्ति'' कहलाती है, और इसी कारण से ''स्थल और सूक्ष्म'' सृष्टि का लयस्थान भी कही जाती है।

वेदान्त शास्त्र में अज्ञान समष्टि के लिये ''माया'' और अज्ञान व्यष्टि के लिये ''अविद्या'' शब्द का व्यवहार किया गया है। माया में विशुद्ध सत्वगुण की प्रधानता होती है और अविद्या में रहने वाला सत्वगुण रजस् और तमस् से अभिभूत होकर अविशुद्ध अथवा मलिन हो जाता है। इसी को पञ्चदशी में कहा गया है :- ''सत्वशुद्धय विशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते''[136]। अर्थात प्रकाशरूप सत्वगुण की शुद्धि अर्थात रजतम से मलिन न होना और सत्व की अशुद्धि अर्थात् रजतम से मलिन होना, इन दोनों कारणों से प्रकृति के क्रमशः माया और अविद्या दो भेद हैं। उनमें से विशुद्ध सत्व गुण प्रधान माया औरमलिन सत्वगुण प्रधन अविद्या है। माया में प्रतिबिम्बित चिदात्मा ब्रह्म उस माया को अपने अधीन रखता हुआ, सर्वज्ञतादिगुणवान् ईश्वर होता है अर्थात् माया के नियन्ता परब्रह्म को ईश्वर कहते हैं।

अजामेकाम् :- श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है:-

> **अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां वहीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।**[137]
> **अजो ह्येको जुशमाणोऽनुशे जहात्येनां मुक्त भोगामजोऽन्यः।।**

अपने ही सदृशरूपवाली बहुत सी प्रजाओं का सृजन करने वाली एक लोहित शुक्ल और कृष्ण वर्ण की अजा (प्रकृित या माया) को एक अज (जीव) सेवन करता हुआ भोगता है, और दूसरा अज उस भुक्तभोगों को त्याग देता है। यहां पर ''एकम्'' पद से अज्ञान या माया का एकत्व बताया गया है। श्रुतियों में अज्ञान के

लिये प्रकृति, माया, अविद्या, अव्याकृत, तम और अजा आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।

उपाधि :- ''उपसमीपवर्तिनि पदार्थे आदधति स्वकीयं धर्ममित्युपाधिः'' अर्थात् सन्निकृष्ट पदार्थ में जो अपने धर्मों का आधन (आरोप) कर देता है, उसे उपाधि कहते हैं। भारतीय दर्शन में प्रयुक्त होने वाला यह एक बहुत महत्वपूर्ण पद है। केशव मिश्र ने प्रयोजक को उपाधि कहा है, ''प्रयोजकश्चोपाधिः इत्युच्यते''[138]। वाचस्वत्यम् में इसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है - ''अन्यथा स्थितस्य वस्तुनोऽयथाप्रकाशनरूपे। इन दोनों लक्षणों को मिलाकर उपाधि को इस रूप में समझा जा सकता है- जब कोई वस्तु अपने स्वरूप से भिन्न रूप में प्रकाशित हो, तो भिन्न रूप में प्रकाशित होने को जो प्रयोजक हेतु होता है, उसे उपाधि कहते हैं। जब रस्सी अपने स्वरूप से भिन्न सर्प के रूप में प्रकाशित होती है, तो उसका प्रयोजक हेतु अज्ञान है, अतः अज्ञान ही उपाधि है। जब सच्चिदानन्द ब्रह्म, ईश्वर या जीव के रूप में प्रकाशित होता है, तो ईश्वरत्व का प्रयोजक समष्ट्यज्ञान और जीवत्व का प्रयोजक व्यष्ट्यज्ञान उपाधि बनता है। जो उपाधि में युक्त होता है, उसे उपहित कहते हैं, और उपाधि का स्पर्शन होने से उपाधि के हट जाने पर उसी को अनुपहित कहते हैं।

उत्कृष्टोपाधितया :- इसके दो अर्थ किये जा सकते हैं :-

1 उत्कृष्ट उपाधि होने के कारण। अर्थात् समष्ट्य ज्ञान, व्यष्ट्य ज्ञान की अपेक्षा उत्कृष्ट है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत में व्याप्त होने के कारण इसके आधरभूत एकता पर आवरण नहीं पड़ता है, जबकि व्यष्ट्यज्ञान में आधरभूत एकता पर आवरण न ही पड़ता है, जबकि व्यष्ट्यज्ञान में आधरभूत एकता ही छिप जाती है।

2 उत्कृष्ट की उपाधि होने के कारण। आगे कहे जाने वाले प्राज्ञ (जीव) की अपेक्षा ईश्वर इसलिये उत्कृष्ट है, क्योंकि वह माया का स्वामी होता है, तथा उसका ज्ञान अप्रतिहत रहता है। जबकि जीव अविद्या का वशवर्ती और अल्पज्ञ होता है।

विशुद्ध सत्व प्रधन :- समष्ट्यज्ञान में विशुद्ध सत्वगुण का प्राधन्य रहता है, अर्थात् उसमें रहने वाला सत्वगुण, रजस् और तमस् से अभिभूत नहीं होता है, अपितु उनको स्वयं दबाये रहता है, उभरने नहीं देता। ईश्वर के सर्वज्ञत्वादि का प्रतिपादन मुण्डकोपनिषद् के प्रथम अध्याय में इस प्रकार किया गया है :-

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः ।[139]
तस्मादेतद् ब्रह्मरूपमन्नं च जायते ।।

अर्थात् जो सबका सामान्य और विशेष रूप से जानने वाला है, जिसका तप ज्ञानमय है, उसी परमेश्वर से यह प्रत्यक्ष दिखने वाला विराट् जगत तथा नामरूप और अन्न उत्पन्न होते हैं। सर्वनियन्तृत्व, अन्तर्यामित्व और जगत्कारणत्व को प्रमाणित करने वाली श्रुतियां इस प्रकार हैं :- "एष से तुर्विधरणः"[140] "एषत् आत्मान्तर्याम्यभृतः[141] तथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"[142] इत्यादि। अन्तर्यामी का अर्थ है भीतर से नियमन करने वाला, और सर्वनियन्ता का अर्थ है बाहर से सबको नियंत्रित करने वाला समष्ट्यज्ञान को आनन्दमय कोश कहने के दो कारण बताये गये हैं :- "आनन्द प्रचुरत्वात्" और "कोशवद् आच्छादकत्वात्"। इसमें आनन्द की प्रचुरता उपहित का (ईश्वर का) धर्म है और आच्छादकता उपाधि (अज्ञान) का धर्म हैं। अज्ञानावस्था में इन दोनों का विवेक न होने के कारण अज्ञान को आनन्दमयकोश कहा जाता है। चूंकि समस्त प्रपञ्च इसी अज्ञान में विलय को प्राप्त करता है, इसीलिये अज्ञान को सर्वोपरम कहा जाता है और सर्वोपरम होने के कारण ही इसको सुशुप्ति, महासुशुप्ति और महाप्रलय भी कहते हैं।

इस प्रकरण को समझने के लिये अद्वैत वेदान्त की सृष्टि विषयक सिद्धान्तों की संक्षिप्त विवेचना की जा रही है। अज्ञान से युक्त आत्मा की तीन अवस्थायें होती हैं :-

1 सुषुप्तिः- इस अवस्था में कारण शरीर उपाधि बनता है, जिसे आनन्दमय कोष भी कहा जाता है।

2 स्वप्न :- इसमें कारण शरीर के साथ मिलकर सूक्ष्म शरीर उपाधि बनता है। सूक्ष्म शरीर में तीन कोश होते हैं - विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश। इन कोशों की समष्टि को सूक्ष शरीर कहते हैं।

3 जागरण :- इस अवस्था में कारण शरीर और सूक्ष्म शरीर के साथ मिलकर स्थूल शरीर उपाधि बनता है। स्थूल शरीर को अन्नमय कोश भी कहते हैं।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ईश्वर और जीव दोनों अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं। ईश्वर और जीव दोनों अज्ञान की उपाधि से युक्त हैं। अतः ईश्वर और जीव दोनों की तीन-तीन अवस्थायें होती हैं। ईश्वर की सुशुप्तावस्था है, प्रलय, उस समय सूक्ष्म और स्थूल जगत् का कारणभूत अज्ञान अव्याकृत अवस्था में रहता है। जब सूक्ष्म भूतों की सृष्टि के फलस्वरूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न हो जाते हैं, तब उसकी स्वप्नावस्था होती

है। स्वप्नावस्था का अभिमानी होने पर उसकी "हिरण्यगर्भ", मुक्तामा" "ब्रह्म" आदि संज्ञायें होती हैं। जब सूक्ष्म भूतों का पच्चीकरण होकर स्थूलभूत और स्थूल शरीर उत्पन्न हो जाते हैं, तब ईश्वर की जागरणवस्था होती है। इस अवस्था का अभिमानी होने पर उसे "विराट" और "वैश्वानर" कहते हैं। जीव की तीन अवस्थायें लोक प्रसि; हैं। उसे सुशुप्तिकाल में "प्राज्ञ" स्वप्नकाल में "तैजस" और जागरण में "विश्व" कहा जाता है। यह समस्त विषय सर्वप्रथम हमें माण्डूक्योपनिषद् में मिलता है। इन तीनों अवस्थाओं, तीनों शरीरों और पांचो कोशों से विनिर्मुक्त होजाने पर वह निरूपाधिक सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप से स्थित होता है।

युक्तियों के आधार पर माया के स्वरूप का निर्धारण करते हुये वेदांतियों ने माया के पांच लक्षण किये हैं, तथा सभी के मत से माया का अर्थ मिथ्या है।

1 पद्मपाद ने कहा कि माया सदसद से विलक्षण है। माया सत् नहीं जैसे आत्मा सत् है। माया असत् नहीं जैसे बन्ध्यापुत्र असत् है क्योंकि उसका अनुभव होता है। अतः माया सत् और आसत् से विलक्षण है, जिसकी पारिभाषिक संज्ञा अनिर्वचनीयत्व है।

2 आनन्दबोध ने कहा कि माया सद् से भिन्न है। आत्मा सत् है। उससे भिन्न जो कुछ भी है वह माया है। द्रष्टा आत्मा से भिन्न जो दृष्य है वह माया है।

3 प्रकाशात्मा ने कहा है कि माया वह है जो ज्ञान से निवर्त्य है। स्वाप्निक जगत् जाग्रत से निवर्त्य है अतः स्वप्न माया है और यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से निवर्त्य है इसलिये यह सम्पूर्ण जगत माया है।

4 प्रकाशात्मा ने माया का एक और लक्षण बताते हुये कहा है कि उपाधियों के रहते जो त्रैकालिक निषेध का प्रतियोगी है वह माया है। इसका तात्पर्य यह है कि माया के कारण निषेध दूर होता है। किन्तु यह सापेक्ष कथन एक मान्यता पर निर्भर है कि ब्रह्म की कुछ उपाधियां है।

5 चित्सुखाचार्य माया का लक्षण बताते हुये कहते है कि स्वाश्रयनिष्ठ अत्यन्ताभाव का जो प्रतियोगी है वह माया है। यहां चित्सुख ने प्रकाशात्मा की उपर्युक्त परिभाषा का ही संशोधन किया है। उनके मत से माया स्वनिष्ठ अभाव का प्रतियोगी है।

इन सभी प्रमाणों को मधुसूदन सरस्वती ने अद्वैत सि; में अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है। और उन सभी दोषों को दूर किया है जो उन पर लगाये जाते हैं।

इन प्रमाणों में से प्रायःएक प्रमाण को सभी वेदान्तियों ने स्वीकार किया है। यह प्रमाण इस प्रकार है - जगत मिथ्या है, क्योंकि वह दृष्य है। जो दृष्य है वह मिथ्या है, जैसे (रस्सी में) सर्प का अनुभव। यह जगत् वैसे ही है, अतः जगत् मिथ्या है। यह युक्ति दृष्यत्व और मिथ्यात्व को अभिन्न करती है दृष्यता मिथ्यता का हेतु है। इस प्रकार वेदान्तियों ने माया के स्वरूप, निर्वचन तथा प्रमाण देने में बहुत सूक्ष्म विवेचना किया है। किन्तु अनेक दार्शनिकों ने माया की आलोचना की है जिसमें रामानुज का स्थान अग्रगण्य है। उन्होंने सात अनुपत्तियां दी हैं - आश्रयानुपपत्ति, तिरोधानुपपत्ति, स्वरूपानुपपत्ति, प्रमाणानुपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति, निवृत्यानुपपत्ति और अनिर्वचनीयानुपपत्ति। किन्तु उपर जो माया के पांच लक्षण दिये गये हैं, उन से माया की परिभाषा की जा सकती है, और माया का स्वरूप निश्चित किया जा सकता है। माया का आश्रय स्वयं ब्रह्म है क्योंकि माया उसकी ही शक्ति है। माया की निवृत्ति सम्भव है और उसका निर्वतक ज्ञान ब्रह्म है। माया ब्रह्म का तिरोधान वैसे ही करती है जैसे बादल सूर्य का करता है। यद्यपि यह सब अस्थायी और अज्ञानवश है तथापि यह अनुभवगम्य है। फिर माया को सि; करने के लिये युक्ति भी दी जाती है। अतः रामानुजाचार्य की युक्तियां ठीक नहीं है, क्योंकि भ्रान्ति से उन्होंने माया की एक अपनी कल्पना की आलोचना की है।

मायावाद के लिये गौड़पाद ने जो तर्क दिया है वह अजातिवाद कहा जाता है। उनका मत है कि तत्वतः सत् से कुछ उत्पन्न नहीं हो सकता है, क्योंकि सत् से यदि कुछ उत्पन्न होगा तो वह सत् भी किसी कारण से उत्पन्न होगा और इसी तरह अन्य की अपेक्षा से अनवस्था दोष उत्पन्न होगा। अतः सत् से तात्विक उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि सत् से जो उत्पत्ति होती है वह केवल माया से है, अर्थात् वह केवल देखने में हैं, जिसका कोई युक्तिसंगत अर्थ नहीं किया जा सकता है।[143]

शंकराचार्य ने इस तर्क में एक दूसरा तर्क जोड़ा है जिसे विवर्तवाद कहा जाता है। उनके अनुसार वास्तव में कारण और कार्य का संबंध अनन्यता का संबंध है। कार्य अपने कारण से अनन्य है। कार्य कारण का ही संस्थान मात्र है।[144] अतः कार्य-कारण का वास्तविक परिणाम न होकर केवल उसका विवर्त है। सारा जगत ब्रह्म का विवर्त और माया का परिणाम है। इस प्रकार माया स्वयं ब्रह्म का विवर्त है। शंकरोत्तर वेदान्त में विवर्तवाद को और विकसित किया गया। वेदान्त सार और वेदान्त परिभाषा में विवर्तवाद तथा परिणामवाद का अन्तर स्पष्ट शब्दों में किया गया। तात्विक परिवर्तन या अन्यथा प्रथा विकार या परिणाम है, जैसे दूध का दही में परिवर्तन दूध का परिणाम है। अतात्विक परिवर्तन या अन्यथा-प्रथा निवर्त.है, जैसे

रस्सी का सांप में जो परिवर्तन है वह अतात्विक है। अतः सांप रस्सी का विवर्त है।[145] किन्तु दोनों में कोई अत्यन्त भेद न समझ ले, इसलिये सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेप शारीरक में कहा कि विवर्तवाद परिणामवाद की उत्तरभूमिका है और परिणामवाद विवर्तवाद की पूर्व भूमिका है।[146] परिणामवाद की स्थापना हो जाने के बाद विवर्तवाद अपने आप ही उससे सिद्ध हो जाता है, क्योंकि परिणामवाद कारण और कार्य के जिस अनन्यता पर बल देता है उसका ही तार्किक विकास विवर्त का संप्रत्यय है। अतः विवर्तवाद परिणामवाद का तार्किक विकास है।

इस प्रकार अजातिवाद तथा विवर्तवाद माया को सि; करते हैं। माया ब्रह्म की एक ऐसी शक्ति है जो दुर्धट को भी धटित कर देती है। इस शक्ति का ब्रह्म से अनिवार्य संबंध नहीं है। ब्रह्म इस शक्ति से पृथक भी रह सकता है, रहता है। यही कारण है कि इसे माया कहा जाता है। यदि यह ब्रह्म की अनिवार्य शक्ति होती तो फिर यह माया नहीं कहलाती। तब यह सद्रूप होती। माया अपनी आवरण, विक्षेप तथा मल रूपी तीन शक्तियों द्वारा ब्रह्म का तिरोधान कर देती है तथा उसके स्थान पर प्रपञ्च को प्रकट करती है। इस विक्षेप में भी वह मान या अनर्थ का निवेश करती है। अतः जो ब्रह्म निष्प्रपञ्च और अमल है उसके स्थान पर अनर्थ से युक्त जगत दृष्टिगोचर होता है।

माया को व्यक्तिकरण का हेतु होने से नामरूपात्मिका भी कहा गया है और नामरूप ही वस्तुओं या व्यक्तियों के व्यक्तिकरण के हेतु हैं। सदात्मना प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है, किन्तु प्रत्येक वस्तु का नाम और रूप ब्रह्म से भिन्न है। यह मायाकृत भेद है और इससे नामरूप ही माया के स्वरूप सि; होते हैं। वास्तव में नाम और रूप उपाधि ा हैं। शंकरोत्तर वेदान्त में माया और प्रकृति में भेद नहीं किया गया। अतः सत्व, रज और तम् जो प्रकृति के गुण थे, माया के भी गुण कहलाये। ये गुण परमार्थतः असत् हैं। माया से वे सत् प्रतीत होते हैं। अतः माया को त्रिगुणात्मिका कहा गया। माया को ही शंकर, मंडन, पद्मपाद, प्रकाशात्मा आदि वेदान्ती अविद्या कहते हैं। उनके मत से माया और अविद्या में अभेद है।[147] दोनों एक ही हैं। कुछ वेदान्तियों ने दोनों में भेद किया है। विद्यारण्य ने कहा कि विशुद्ध सत्वगुण प्रधान माया है और मलिनसत्वगुणा प्रधान अविद्या है।[148] मलिन सत्व का अभिप्राय है उस सत्वगुण से जो रजोगुण तथा तमोगुण से तिरस्कृत रहता है। कुछ लोंगों के मत से विक्षेपशक्ति की प्रधानता जिसमें हो वह माया है और आवरण शक्ति की प्रधानता जिसमें हो वह अविद्या है।[149] इस प्रकार विक्षेप-शक्ति को माया तथा आवरण-शक्ति को अविद्या की संज्ञा दी गयी है।

जगत् का स्वरूपः- शंकराचार्य के अद्वैववाद में जगत् की जो अवधारणा मिलती है, वह ज्ञानमीमांसीय अवधारणा है, जिसमें वस्तुवाद एवं विज्ञानवाद दोनों ही दृष्टियों से अलग रूप में जगत की व्याख्या की गयी है। वस्तुवाद में चार्वाक, न्यायवैशेषिक, सांख्य, योग, बौ; आदि को देख सकते हैं, जिसके अनुसार वस्तुओं की सत्ता वस्तुओं की ज्ञान से स्वतंत्र है। सभी वस्तुवादी सिद्धान्त यह मानते हैं कि तत्व की दृष्टि से वस्तुओं की व्याख्या के लिये किसी चेतन सत्ता को मानना आवश्यक नहीं है। अचेतन से ही जगत की सृष्टि है। जैसे चार्वाक कहता है कि अचेतन में ही इतनी शक्ति है कि वह चेतन सापेक्ष हुये बिना वह इस जगत् की सृष्टि कर सकता है। विज्ञानवादी यह मानते हैं कि विषयी और विषय का जो द्वैत उत्पन्न होता है, इसमें चेतना वास्तविक है, लेकिन वस्तु या विषय की स्वतंत्र सत्ता नहीं है विषय चेतना सापेक्ष है। शून्यवादियों के अनुसार विषय और विषयी दोनों का द्वैत वास्तविक नहीं है, विषयी और विषय दोनों विक्षेप हैं, तत्त्व शून्यता है जो विषयी और विषय के रूप में प्रतीत होता है। इस प्रकार विज्ञानवादी के अनुसार विषयी के रूप में विज्ञान प्रवाह पर ही विषय आरोपित है, तथा शून्यवाद के अनुसार शून्य पर विषय टिका हुआ है। शंकराचार्य इन दोनों का खण्डन करते हुये कहते है कि जगत् न तो स्वतंत्ररूप में वास्तविक है और न तो अचेतन से उत्पन्न है। यह जगत् कार्य के रूप में अपने कारण ब्रह्म से अन्य नहीं है। जगत् अपने कारण की अवस्था मात्र है। जैसे धट आदि मिट्टी की अलग-अलग अवस्थायें हैं, उसी प्रकार यह जगत् ब्रह्म से अन्यथा नहीं है। ब्रह्म इसमें अनन्त है। चेतना से जगत् को पृथक नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि कारण न हो तो कार्य भी नहीं रह सकता है। जगत् में जो चेतना या ब्रह्म है उसके बिना जगत् नहीं है। यह एक ज्ञानमीमांसीय दृष्टि है, जिसके अनुसार चेतना से जगत् को पृथक् नहीं किया जा सकता। वस्तु भी अपनी चेतना से अनन्य होती है। इसलिये चेतना या ब्रह्म से पृथक् जगत् की कोई वास्तविकता नहीं है। शंकराचार्य बौद्धवादियों की आलोचना करते हुये कहते हैं कि न तो स्वप्न के साथ जगत् की तुलना की जा सकती है और न ही शून्य कभी वस्तु के रूप में प्रतीत हो सकता है।

शंकराचार्य की जगत् सम्बन्धी व्याख्या वस्तुवाद एवं विज्ञानवादियों के मध्य संतुलन स्थापित करती है। जिस प्रकार कांट ने जगत् को पारमार्थिक दृष्टि से असत् तथा व्यावहारिक दृष्टि से सत् माना है, उसी प्रकार शंकराचार्य ने जगत को अनिर्वचनीय एवं मिथ्या कहा है। जगत् की अनिर्वचनीयता उसके मिथ्यात्व की सूचक है। हम जगत् के मिथ्यात्व को बु; से समझना चाहते हैं। हमारी तार्किक बुद्धि किसी भी वस्तु को सत् या असत् के रूप में जानना चाहती है। सत् से

अभिप्राय नितान्त रूप से सत् और असत् से अभिप्राय नितान्त रूप में असत् से है, और इसी रूप में वह जगत् को निर्धारित करना चाहती है। इसी समय बुद्धि को एक विचित्र स्थिति का साक्षात्कार होता है कि जगत न तो सत् है और न तो असत् वह सतसत् विलक्षण है। वह असत् नहीं क्यों कि असत् की प्रतीति नहीं हो सकती, लेकिन जगत जो हमारे समक्ष है, उसका हम निषेध भी नहीं कर सकते। परन्तु मात्र उपलब्ध होने से कोई वस्तु सत् भी नहीं है। जो व्यावहारिक सत् है उसे पारमार्थिक रूप से सत् नहीं कह सकते, क्योंकि यदि वस्तु का वास्तविक स्वरूप बाधित होता है तो वह असत् और यदि बाधित न हो तो वह सत् होगा, और जगत् का कोई ऐसा स्वरूप नहीं है इसलिये उनको असत् कहते हैं। असत् को सि; करने के लिये रज्जु एवं सर्प का उदाहरण देते है। जब रज्जु का ज्ञान हो जाता है तब सर्प बु; असत् हो जाती है, उसी तरह से जब आत्म ज्ञान हो जाता है तो जगत् की बु; भी असत् सि; हो जाती है। यहां मिथ्या और भ्रम में सूक्ष्मता से भेद करना चाहिये। प्रायः इन दोनों में भेद नहीं किया जा सकता, लेकिन जगत् को मिथ्या तो कहा जा सकता है लेकिन उसे भ्रम नहीं कहा जा सकता। जैसे- मृगमरीचिका भ्रम होती है, रज्जु में सर्प की बु; भ्रम होती है। यह भ्रामक ज्ञान अनुपयोगी होती है, और इस अर्थ में जगत् को भ्रम नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जगत् एक उपयोगी कल्पना है। यह जगत् उपयोगी, यथार्थ एवं वास्तविक है, लेकिन पारमार्थिक दृष्टि से यह मिथ्या है। जिसने पारमार्थिक दृष्टि को प्राप्त कर लिया है, वही इसे मिथ्या कहने का अधिकारी होता है, तथा जिसने वह स्थिति नहीं प्राप्त की हैं, उसके लिये यह जगत् वास्तविक है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् के मिथ्यात्व एवं आत्म बोध दोनों के साथ धटित होने वाली धटना है, लेकिन दोनों एक साथ विद्यमान् नहीं होती। व्यवहार होता है तो परमार्थ नहीं होता और परमार्थ होता है तो व्यवहार उस समय लोप होता है। व्यवहार से परमार्थ का मार्ग है, परन्तु परमार्थ से व्यवहार का कोई मार्ग नहीं है।

ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्याय में जगत्कारण का ब्रह्म में सम्भावित दोषों की उद्भावना करके उसका निराकरण किया गया है। इसी अध्याय के प्रथम पाद के तेंरहवें सूत्र में कह गया है - ''भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्''[150] अर्थात् यदि कहो कि ब्रह्म को जगत् का कारण मान लेने से स्वयं ब्रह्म का जीव के रूप में सुख दुःख आदि का भोक्ता होना सिद्ध होगा, जिससे ब्रह्म और जीव का विभाग सम्भव नहीं होगा, तथा जड़ वर्ग में भोक्तापन आ जाने से भोक्ता जीवात्मा और भोग्य जड़वर्ग का भी विभाग असम्भव हो जायेगा तो ऐसी बात नहीं हैं क्योंकि व्यवहार में एक कारण से उत्पन्न हुई वस्तुओं में ऐसा विभाग प्रत्यक्ष देखा जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीवात्मा तथा जीव और जड़वर्ग का विभाग होने में भी कोई बाधा नहीं होगी।

जैसे एक ही पिता के बहुत से लड़के परस्पर एक-दूसरे के सुख-दुःख के भोक्ता नहीं होते, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीवों को कर्मानुसार जो सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उनका उपयोग वे पृथक्-पृथक् ही करते हैं, एक-दूसरे के नहीं। उसी प्रकार एक ही ब्रह्म के असंख्य कार्य होने पर भी उनके विभाग में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती हैं।

ऐसा मानने से कारण और कार्य की अनन्यता सि; नहीं होगी, ऐसी शंका प्राप्त होने पर कहते हैं - ''तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः''[151] अर्थात् आरम्पण आदि हेतुओं से कार्य की कारण से अनन्यता सि; होती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि ''यथा सोम्यैकैने मृत्पिण्डेन सर्व मृन्मयं विज्ञानं स्याद् वाचारम्यरंणविकाररोनामधेगं मृत्तिकेत्येव सत्यम्''[152] अर्थात् हे सौभ्य! जैसे मिट्टी के एक ढेले का तत्त्व जान लेने पर मिट्टी से उत्पन्न होने वाले समस्त कार्य जाने हुये हो जाते हैं, उनके नाम और आकृति के भेद तो व्यवहार के लिये हैं, वाणी से उनका कथन मात्र होता है, वास्तव में कार्य रूप में भी वह मिट्टी ही है। इस प्रकार यह जगत् भी कार्य रूप में ब्रह्म रूप ही है। इस कथन से जगत् की ब्रह्म से अनन्यता सि; होती है। इस सूत्र में आदि शब्द का अभिप्राय है कि इस प्रकरण में आये हुये दूसरे वाक्यों से भी यही बात सि; होती है। उक्त प्रकरण में ''एतदात्म्यमिदं सर्वम्'' का प्रयोग कई बार हुआ है। इसका अर्थ है कि सब कुछ ब्रह्म स्वरूप है। इस प्रकार श्रुति ने कारणरूप ब्रह्म से कार्यरूप जगत् की अनन्यदाता का स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादन किया है। उसी प्रकरण में उपदेश का आरम्भ करके कहा गया हैं - ''सदैव सौम्येदमग्रभासीदेकमेवोद्वितीयम्''[153] अर्थात् हे सौम्य। यह समस्त जगत् प्रकट होने से पूर्व एकमात्र अद्वितीय सत्यस्वरूप ब्रह्म ही था। इससे अनन्यता के साथ यह भी सिद्ध होता है कि यह जगत् उत्पत्ति के पूर्व ओर विलीन के बाद स्वर्ग में ही शक्ति रूप से रहते हैं, उसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् उत्पत्ति के पूर्व और प्रलय के बाद ब्रह्म में शक्ति रूप से अव्यक्त रहता है। अतः जगत् की ब्रह्म से अनन्यता में कोई बाधा नहीं आती। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि ''यह आठ भेदों वाली जड़ प्रकृति तो मेरी अपराप्रकृतिरूपा शक्ति है और जीवरूप चेतन-समुदाय मेरी परा-प्रकृति है''[154] इसके बाद यह भी बताया है कि ''ये दोनों समस्त प्राणियों के कारण हे और मैं सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति एवं प्रलयरूप महाकारण हूँ।[155] इस कथन से भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृतियों के साथ अनन्यता सि; की है।

इसी प्रकरण में आगे यह सिद्धि दूर करने के लिये वर्तमान अवस्था के पहले भी शक्तिरूप में कार्य की सत्ता नहीं है, कहते हैं- ''भावे चोपलब्धेः''[156] यहां यह बात दृढ़ करते हैं कि कार्य अपने कारण में शक्तिरूप से सदैव विद्यमान् रहता है, तभी उसकी उपलब्धि होती है, क्योंकि जो वस्तु वास्तव में विद्यमान् होती है उसी

की उपलब्धि हुआ करती है और जो वस्तु नहीं होती है, जैसे खरगोश की सींग, उसकी उपलब्धि भी नहीं होती है। इसलिये यह जगत् अपने कारण रूप ब्रह्म में शक्ति रूप से अवश्य विद्यमान् है और सदैव अपने कारण से अभिन्न है।

पुनः सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिये कहते हैं - सत्याच्चाबरस्य''[157] अर्थात् श्रुति में जो कार्य का सत् होना कहा गया है, उससे भी प्रकट होने के पहले उसका होना सिद्ध है। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है - ''सदेवसोम्येदमग्र आसीत्''[158]- हे सौम्य! यह प्रकट होने से पहले भी सत्य था। इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है - ''तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमीत्''[159] - अर्थात् उस समय यह अप्रकट था।'' इन वर्णनों से यह सिद्ध हैं कि स्थूलरूप में प्रकट होने के पहले यह सम्पूर्ण जगत् अपने कारण में शक्तिरूप से विद्यमान् रहता है और वह सृष्टिकाल में प्रकट होता है।

''असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्[160] यदि यह कहा जाय कि उत्पत्ति के पहले इस जगत् को ''असत्'' बतलाया है, इसलिये कार्य का कारण में पहले से विद्यमान् होना सिद्ध होता है, तो ऐसी बात न ही है, क्योंकि ऐसा कहना धर्मान्तर की अपेक्षा से है, यह बात अन्तिम वाक्य से सिद्ध होती है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि ''असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सद्जायत्। तदात्मानं स्वयमकुरूत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते।'' अर्थात् यह सब पहले ''असत्'' ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ, उसने स्वयं ही अपने को इस रूप में बनाया, इसलिये उसे सुकृत कहते हैं।'' इस श्रुति में जो यह बात की गयी है कि पहले बाद ''असत् ही था। उसका अभिप्राय यह नहीं है कि जगत् प्रकट होने के पहले नहीं था, क्योंकि इसके बाद ''आसीत्'' पद से उसका होना कहा है। फिर उससे सत् की उत्पत्ति बतलायी है। तत्पश्चात् यह कहा है कि उसने स्वयं अपने को इस रूप में प्रकट किया है। अतः यहां धर्मान्तर की अपेक्षा से उसको ''असत्'' कहा है। अर्थात् प्रकट होने से पहले जो अप्रकट रूप में विद्यमान् रहना धर्मान्तर है, इसी को ''असत्'' नाम से कहा गया है, उसकी अनुपस्थिति बताने के लिये नहीं। अर्थात् यह जगत उत्पत्ति से पूर्व असत्-अप्रकट था। फिर उससे सत् की उत्पत्ति हुई - अर्थात् अप्रकट जगत् अपने अप्राकट्यरूप धर्म को त्यागकर प्राकट्य धर्म से युक्त हुआ। इसी बात को छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से समझाया है, जिसका वर्णन इस प्रकार है- ''तद्धैक आदुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्माद सतः सज्जायत[161] अर्थात् कुछ लोग कहते हैं, यह जगत् पहले ''असत्'' ही था, अकेला वी या दूसरा कोई नहीं, फिर असत् से सत् उत्पन्न हुआ।'' इतना कहकर श्रुति स्वयं ही अभाव के भ्रम का निवारण करती हुई कहती है- ''कुतस्तु खलु सौम्यैवं स्यादिति

होवाच कथमसतः सज्जायेतेति।[162]" किन्तु हे सौम्य! ऐसा होना कैसे सम्भव है, असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है।" तात्पर्य यह है कि अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिये "सत्त्वैवसौम्यदमग्र आसीत्।" "यह सब पहले सत् ही था।" यह श्रुति ने निश्चय किया है। इस प्रकार वाक्य शेष से सत्कार्यवाद की ही सिद्धि होती है। पुनः इसी बात को दृढ़ता प्रदान करते हुये कहा गया है- "युक्तेः शब्दान्तराच्च"[163] अर्थात् जो वस्तु वास्तव में नहीं होती उसका उत्पन्न होना नहीं देखा जाता, जैसे- आकाश कुसुम किसी ने नहीं देखा है। इस युक्ति तथा वृहदारण्यक आदि में जो उसके लिये अव्याकृत आदि शब्द प्रयुक्त हुये हैं, उन शब्दों से भी यही बात सिद्ध होती है कि "यह जगत् उत्पन्न होने से पहले भी सत् ही था।" पुनः उसी बात को कपड़े के दृष्टान्त से सिद्ध करते हुये कहते हैं- "पटवच्च"[164] अर्थात् जब तक कपड़ा शक्तिरूप से सूत में अप्रकट रहता है, तब तक नहीं दिखता, जब वह बुनने के बाद कपड़े के रूप में प्रकट हो जाता है, तब अपने रूप में दिखने लगता है। प्रकट होने के पहले और बाद दोनों ही अवस्थाओं में वस्त्र अपने कारण में विद्यमान है और उससे अभिन्न भी है। इसी प्रकार जगत् को भी समझ लेना चाहिये। यह उत्पत्ति के पहले भी ब्रह्म में है और उत्पत्ति के बाद भी उससे पृथक् नहीं हुआ है।

इसी बात को प्राण आदि के दृष्ठांत से समझाते हैं :- "यथा च प्राणादि" जैसे मृत्युकाल में प्राण और इन्द्रिय आदि जीवात्मा के साथ-साथ शरीर से बाहर कहीं अन्यत्र चले जाते हैं, तब उनके स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती तथापि उनकी सत्ता अवश्य है। उसी प्रकार प्रलयकाल में इस जगत् की अप्रकट उपलब्ध न होने पर भी इसकी कारण रूप में सत्ता अवश्य है।

ब्रह्म को जगत् का कारण और जगत् के साथ उसकी अनन्यता मानने में अन्य प्रकार की शंका उठाकर उसके निराकरण के लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं- "इतरण्योपदेशा;िताकरणादिदोश प्रसक्ति[166] अर्थात् ब्रह्म ही जीव रूप में उत्पन्न होता हैं, ऐसा कहने से, ब्रह्म में अपना हित न करने का दोष आ सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" - हे श्वेतकेतु। तू वही है। "अयमात्मा ब्रह्म"- यह आत्मा ब्रह्म ड़है, ऐसा वृहदारण्यकोपनिषद् मे कहा गया है तथा छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है सेमं देवतेमास्तिस्त्रें देवता अनेनैव जीवेनानुप्रविश्च नामरूपे व्याकरोत्" अर्थात् इस देवता (ब्रह्म) ने तेज आदि तत्त्व से निर्मित शरीर में इस जीवात्मा रूप से प्रवेश करके नाम-रूपों को प्रकट किया। इसके सिवा वेतावतरोपनिषद् में यह भी कहा गया है कि "त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी"[167] "तूं स्त्री है, तू पुरूष है, तु ही कुमार और कुमारी है" इत्यादि।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि ब्रह्म ही जीव रूप से उत्पन्न हुआ है। इससे ब्रह्म में अपना हित न करने अथवा अहित करने का दोष आता है, जो उचित नहीं है, क्योंकि जगत् में कोई ऐसा-प्राणी नहीं देखा जाता जो कि समर्थ होते हुये भी दुःख भोगता रहे और अपना हित न करे। यदि वह स्वयं ही जीव बनकर दुःख भोग रहा है, तब तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का इस प्रकार अपना हित न करना, अपने को जन्म-मरण के चक्कर में डाले रहना आदि अनेक दोष से धटित होने लगेंगे, जो कि सर्वथा अयुक्त है, अतः ब्रह्म को जगत् कारण मानना उचित नहीं है। इस शंका का निराकण करने के लिये कहते हैं-" "अधिकं तु भेदं निर्दिशेत्"[168] किन्तु ब्रह्म जीव नहीं है, अपितु उससे अधिक है, क्योंकि जीवात्मा से ब्रह्म का भेद बताया गया है। वृहदारण्यकोपनिषद् में जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद का वर्णन है। वहां सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि दैवी ज्योतियों का तथा वाणी आदि आध्यात्मिक ज्योतियों का वर्णन करने के पश्चात् इनके अभाव में "आत्मा" को "ज्योति" अर्थात् प्रकाशक बतलाया है। फिर उस आत्मा का स्वरूप पूछे जाने पर विज्ञानमय जीव को आत्मा बताया। तत्पश्चात् जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का वर्णन करते हुये कहा कि "यह जीव सुषुप्ति काल में बाहर-भीतर के ज्ञान से शून्य होकर परब्रह्म से संयुक्त होता है। मरणोपरि उस पर ब्रह्म से अधिष्ठित हुआ यह एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि "अनेन जीवेनात्मनानु- प्रविश्य" आदि का अर्थ जीव रूप से ब्रह्म का प्रवेश करना नहीं, अपितु जीव के सहित ब्रह्म का प्रवेश करना है। ऐसा मानने से ही जो श्वेताश्वतरोपनिषद् में जीव और ईश्वर को एक ही शरीर रूप वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षियों की भाँति बताया गया है, वह संगत होता है। श्रुति में जो ब्रह्म को प्रकृति एवं जीवात्मा दोनों पर शासन करने वाला कहा गया है, वह संगत होता है। श्रुति में जो ब्रह्म को प्रकृति एवं जीवात्मा दोनों पर शासन करने वाला कहा गया है, इन सब वर्णनों की संगति भी जीव और ब्रह्म में भेद मानने पर ही हो सकती है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के भेद का वर्णन होने से यही सि; होता है कि वह जगत् का कर्ता, धर्ता और संहर्ता ईश्वर जीव नहीं, किन्तु उसमें अधिक अर्थात् जीव के स्वामी हैं। "तत्त्वमसि", "अयमात्मा ब्रह्म" आदि वाक्यों द्वारा जो जीव को ब्रह्मरूप बताया गया है, वह पूर्व वर्णित कारण और कार्य की अनन्यता को लेकर है। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ हैं। जीव ईश्वर के अधीन है, परमात्मा सबके शासक और स्वामी हैं। जिस प्रकार जीवात्मा का भी ब्रह्म से भेद है। ब्रह्म नित्य युक्त है, अतः अपना अहित करना - आवागमन के चक्र में अपने को डाले रहना आदि दोष उस पर नहीं लगाये जा सकते। इसी बात को दृढ़ करने के लिये दूसरी युक्ति देते हैं :-

"अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः"[169] जिस प्रकार ईश्वर चेतना, ज्ञान स्वरूप, आनन्दमय तथा सबके रचयिता होने के कारण अपनी अपरा प्रकृति के विस्तार रूप पत्थर, काठ, लोहा और सुवर्ण आदि निर्जीव पदार्थों, से भिन्न हैं, केवल कारण रूप से उसमें अनुगत होने से उससे अभिन्न कहे जाते हैं, उसी प्रकार अपनी परा प्रकृति के जीव समुदाय से भी वे भिन्न ही हैं, क्योंकि जीव अल्पज्ञ एवं सुख़-दुःख आदि का भोक्ता है और परब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा सुख-दुःख से परे है। कारण और कार्य की अनन्यता को लेकर ही जीव मात्र परब्रह्म से अभिन्न बतलाये गये हैं। इसलिये ब्रह्म में यह दोष नहीं आता कि "वह अपना अहित करता है।" वह हित-अहित से ऊपर है।

अब उस परब्रह्म का बिना किसी की सहायता कै केवल संकल्प मात्र से ही इस जगत् की रचना कर देना उन्हीं के अनुरूप है, यह सि; करने के लिये अगला प्रकरण का आरम्भ करते हुये कहते हैं- "उपसंहार दर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि"[170] व्यवहार में धड़ा, वस्त्र आदि बनाने के लिये सक्रिय कार्यकर्ता तथा मिट्टी, सूत आदि साधनों का संग्रह देखा जाता है, उन साधन सामग्री के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता। परन्तु ब्रह्म को एकमात्र, अद्वितीय निष्क्रिय आदि कहा गया है, उसके पास कोई भी साधन सामग्री नहीं है, इसलिये वह इस जगत् का सृष्टि नहीं कर सकता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे दूध उपनी सहज शक्ति से, किसी बाह्य साधन की सहायता के बिना ही दही रूप में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपनी स्वाभाविक शक्ति से जगत् का रूप धारण कर लेता है। जैसे मकड़ी को जाला बनाने के लिये किसी अतिरिक्त बाह्य साधन की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार ब्रह्म भी किसी अन्य साधन का सहारा लिये बिना अपनी अचिन्त्य शक्ति से ही जगत् की रचना करता है। श्रुति परमेश्वर की उस अचिन्त्य शक्ति का इस प्रकार वर्णन करती है - "उस परमात्मा को किसी साधन की आवश्यकता नहीं है, उसके साधन कोई और नहीं है। उसकी ज्ञान, बल और क्रिया रूप स्वाभाविक पराशक्ति नाना प्रकार की सुनी जाती है।"[171] यहां पर जिज्ञासा होती है कि दूध, जल आदि जड़ वस्तुओं में संकल्पूर्वक रचना करने की प्रवृत्ति नहीं होती, परन्तु ब्रह्म तो संकल्प पूर्वक जगत् की रचना करता है, अतः उसके लिये दूध का दृष्ठांत देना ठीक नहीं है। विचारपूर्वक कार्य करने वाले को साधन-सामग्री की आवश्यकता होती है। ब्रह्म अद्वितीय होने के कारण साधन शून्य है, इसलिये वह जगत् का कर्ता कैसे हो सकता है? इसके लिये कहते हैं - "देवादिवदपि लोके"[172] अर्थात् जैसे देवता और योंगी आदि बिना किसी उपकरण की सहायता के अपनी अद्‌भुत शक्ति के द्वारा ही बहुत से शरीर आदि की रचना कर लेते हैं, उसी प्रकार अचिन्त्य शक्ति से सम्पन्न ईश्वर

अपने संकल्प मात्र से इस जगत् की रचना कर दे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यदि साधारण मकड़ी अपनी ही शक्ति से अन्य साधनों के बिना जाला बना सकती है, तो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को इस जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण मानने में क्या आपत्ति हो सकती है। इसी बात को दृढ़ करने के लिये शंका उपस्थित करते हैं - "कृत्स्नसक्तिर्निखयवत्वशब्दकोपोवा"[173] अर्थात् ब्रह्म को जगत् का कारण मान लेने पर वह पूर्ण रूप से जगत् के रूप में परिणत हो गया, ऐसा मानने का दोष उपस्थित होगा, अथवा, उसको अवयव रहित बताने वाले श्रुति से विरोध होगा। यदि ब्रह्म को सावयव मान लिया जाय तो उसे "अजन्मा, अवयवरहित" आदि बनाने वाले श्रुति से विरोध आता है, सावयव होने पर वह नित्य और सनातन भी नहीं रह सकेगा, इसलिये ब्रह्म को जगत् का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है। इस शंका के उत्तर में कहते हैं - "श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्"[174] पूर्वपक्ष ने जो दोष उपस्थित किये हैं, वे सि;ान्त पक्ष पर लागू नहीं होते, क्योकि वह श्रुति पर आधारित है। श्रुति ने जिस प्रकार जगत् की उत्पत्ति बतायी है, उसी प्रकार निर्विकार रूप से ब्रह्म की स्थिति का भी प्रतिपादन किया हैं। जैसे - मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है- "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मोदेतद्ब्रह्म नाम रूप मन्नं च जायते।।" अर्थात् वे सम्पूर्ण जगत् के कारणभूत परमेश्वर साधारण रूप से तथा विशेष रूप से भी सबको जानने वाले हैं, उस ब्रह्म का एकमात्र ज्ञान ही तप है। उन्हें साधारण मनुष्य की भांति जगत् की उत्पत्ति के लिये कष्ट सहन रूप तप नहीं करना पड़ता। उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के संकल्प मात्र से ही यह प्रत्यक्ष दिखने वाला विराट रूप जगत् अपने आप प्रकट हो जाता है और समस्त प्राणियों तथा लोकों के नाम, रूप और आहार आदि भी उत्पन्न हो जाते है। अतः श्रुति प्रमाण से यही मानना ठीक है कि ब्रह्म जगत् का कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से नित्य स्थित है। वह अवयवरहित और निष्क्रिय होते हुये भी जगत् का कारण होता हुआ भी निर्विकार रूप से नित्य स्थित है। वह अवयवरहित और निष्क्रिय होते हुये भी जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। वेद ने उसका स्वरूप जैसा बताया है, वैसा ही मानना चाहिये। वेद उसे अवयवरहित बताने के साथ यह भी बताया है कि यह समस्त ब्रह्माण्ड के एक पाद में स्थित है, शेष तीन पाद परमधाम में स्थित है, ऐसा श्रुति ने स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया है। अतः ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में पूर्वोक्त दोनों ही दोष नहीं प्राप्त होते हैं। इसी बात को युक्ति से भी दृढ़ करते हैं -

"आत्मनि चैवं विचित्रश्चहि अर्थात् इसके अतिरिक्त युक्त्ति से इसमें कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अवयव रहित जीवात्मा में ऐसी विचित्र सृष्टियां देखी

जाती है। इतना ही नहीं, निरवयव वस्तु से विचित्र सावयव जगत् की सृष्टि सांख्यवादी स्वयं भी मानते हैं। अतः "स्वपक्षदोशाच्च"[176] अर्थात् उनके अपने पक्ष में ही उक्त दोष आता है, इसलिये भी परब्रह्म परमेश्वर को ही जगत् का कारण मानना ठीक है। सांख्यादि मतों में दोष दिखाने के पश्चात् पुनः अपने सिद्धान्त को निर्दोश सि; करते हुये कहते हैं - "सर्वोपेता च तद्दर्शनात्"[177] अर्थात् वह परमात्मा सब शक्तियों से सम्पन्न है, ऐसी बात वेद में जगह-जगह कही गयी है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है - "सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगधः सर्वरसः सर्वमिदमम्यात्तोऽवाक्यनादरः अर्थात् वह ब्रह्म सत्य संकल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त जगत को सब ओर से व्याप्त करने वाला, वाणी रहित और मान रहित है। वृहदारण्यक में उस परब्रह्म के शासन में सूर्य, चन्द्रमा आदि को दृढ़तापूर्वक स्थित बताया गया है, तथा श्वेतावतर में ज्ञान, बल और क्रिया रूप नाना प्रकार की स्वाभाविक शक्तियों का होना बताया गया है। इस प्रकार से ब्रह्म की शक्तियों का सूचित करने वाला बहुत से वचन वेद में मिलते है। इस प्रकार अनेक विचित्र शक्तियों से सम्पन्न होने के कारण उस परब्रह्म परमात्मा से इस विचित्र जगत् का उत्पन्न होना अयुक्त नहीं है। परमात्मा या ब्रह्म ही इस जगत् का कारण है, यही मानना ठीक है।

पुनः शंका उपस्थित करते हुये उसका निराकरण करते हुये कहते हैं कि- "विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्"[178] यदि कहो, "ब्रह्म को शरीर, बुद्धि, मन, और इद्रिय आदि कारणों से रहित कहा गया है, इसलिये वह जगत् का बनाने वाला नहीं हो सकता, तो ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि इसका उत्तर पहले "सर्वोपेता च तद्दर्शनात्" सूत्र में परब्रह्म को सर्वशक्ति सम्पन्न बताकर दिया गया है तथा श्रुति ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वह परमेश्वर हाथ-पैर आदि समस्त इन्द्रियों से रहित होकर भी सदा कार्य करने में समर्थ है। इसलिये ब्रह्म ही जगत् का कारण हैं, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। प्रत्येक कार्य किसी न किसी प्रयोजन से प्रयुक्त होता हैं, और ब्रह्म प्रयोजन रहित है, इसलिये वह जगत् का कारण नहीं हो सकता। इस शंका का उत्तर देते हुये कहते हैं - "लोकवत्तुलील्लाकैवल्यम्"[179] ऐसा देखा जाता है कि जो परमात्मा को प्राप्त हो चुके हैं और जिनका अपना कोई स्वार्थ नहीं रह गया है, कर्म करने से जिनका कोई प्रयोजन नहीं है, जस आप्तकाम और वितराग हैं, ऐसे सिद्धं पुरूषों द्वारा जगत् हित के लिये स्वभावतः कर्म किये जाते हैं, उनके कर्म, फलरहित होने से लीला मात्र हैं। उसी प्रकार परब्रह्म का भी जगत् रचना आदि कर्मों से अपना कोई प्रयोजन नहीं है तथा ये कर्म अनासक्त है, इसलिये उनके कर्म लीला मात्र ही हैं। इसीलिये शास्त्रें में परमेश्वर के कार्यों को दिव्य एवं निर्मल बताया है।

इस परमेश्वर के द्वारा बिना प्रयोजन इस जगत् की रचना आदि कार्य का होना उचित ही है।

परब्रह्म परमात्मा को जगत् का कारण मानने पर उसमें विषमता और निर्दयता का दोष आता है, क्योंकि वह देवता आदि को अधिक सुखी और पशु आदि को दुःखी बनाता है तथा मनुष्य को सुख-दुःख से परिपूर्ण मध्यम स्थिति में उत्पन्न करता है। जिन्हें सुखी बनाता हैं, उनके प्रति पक्षपात सूचित होता हैं, और जिन्हें दुःखी बनाता हैं, उनके प्रति उसकी निर्दयता प्रतीत होती है। इस दोष का निराकरण करने के लिये कहते हैं, ''वैशम्यनैधृण्ये न सापेक्षत्वात्तया हि दर्शयति''[180] अर्थात् परमेश्वर में विशमता और निर्दयता का दोष नहीं आता, क्येंकि वह जीवों की शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखकर सृष्टि करता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है- ''पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः।''[181] अर्थात् निश्चय ही यह जीव पुण्य कर्म से पुण्यशील होता है - पुण्य योनि में जन्म पाता है और पाप कर्म से पापशील होता। साधुर्भवति साधुकारी पापकारी पापो भवति''[182] अर्थात् अच्छे कर्म करने वाला अच्छा होता है - और पुरा कर्म करने वाला पाप योनि में जन्म ग्रहण करके दुःख उठाता है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि जीवों के शुभाशुभ कर्मों की अपेक्षा रखकर ही परमात्मा उनको कर्मानुसार अच्छी-बुरी योनियों में उत्पन्न करते हैं। इसलिये निष्पक्ष भाव से न्याय करने वाले परमात्मा पर निर्दयता और विषमता का दोष नहीं लगाया जा सकता है। पूर्वसूत्र में कही हुई बात पर शंका उपस्थिति करते हुये उसका निराकरण करने के लिये कहते हैं - ''न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्''[183] यह कहा जाय कि जगत् की उत्पत्ति से पहले जीव और उनके कर्मों का ब्रह्म से विभाग नहीं था, इसलिये परमात्मा कर्मों की अपेक्षा से सृष्टि करता हैं, यह कहना नहीं बन सकता, तो ऐसी बात नहीं हैं, क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं। इससे यह जिज्ञासा होती है कि जीव और उनके कर्म, अनादि हैं। इससे यह जिज्ञासा होती है कि जीव और उनके कर्म अनादि है, इसमें क्या प्रमाण है? इस पर कहते हैं - ''उप पद्यते चात्युपलभ्यते च[184] जीव और उनके कर्म अनादि है, यह बात युक्ति से भी सिद्ध होती हैं, क्योंकि यदि इनको अनादि नहीं माना जायेगा तो प्रलयकाल में परमात्मा को प्राप्त हुये जीवों के पुनरागमन मानने का दोष प्राप्त होगा। अथवा यह स्वीकार करना होगा कि प्रलयकाल मे सभी जीव अपने आप मुक्त हो जाते हैं। इससे शास्त्र की हानि होगी, जो अनुचित है। इसके अतिरिक्त श्रुति में भी जैसे वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत् और पुरातन है, शरीर के नाश उसमें इस जीवात्मा के सहित प्रवेश किया।'' इन सब वर्णनों से जीवात्मो और यह जगत् अनादि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार स्मृति में भी स्पष्ट कहा गया है कि ''पुरूष और

प्रकृति दोनों को ही अनादि समझो'' ।[185] इस प्रकार जीव और उनके कर्म अनादि सि; होने से उनका विभक्त होना अनिवार्य है, अतः कर्मों की अपेक्षा से परमेश्वर को इस विचित्र जगत् का कर्ता मानने में कोई विरोध नहीं है। अपने पक्ष में अविरोध सि; करने के लिये कहते हैं - ''सर्वधर्मोपपत्तेश्च''[186] अर्थात् इस जगत् कारण रूप परब्रह्म परमात्म में सभी धर्मों का होना संगत है, क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वधर्मा, सर्वाधार और सब कुछ बनने में समर्थ हैं। इसीलिये वह सगुण और निर्गुण दोनों है। समस्त जगत् के व्यापार से रहित होकर भी सब कुछ करने वाला है। वह व्यक्त और अव्यक्त दोनों है। उस परब्रह्म के लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने में कोई भी दोष या विरोध नहीं हैं।

शंकराचार्य ने जगत् को असत्य नहीं माना है। अद्वैत दर्शन का सुप्रसि; सूत्र, ''ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या'' से ऐसा प्रतीत होता है कि शंकराचार्य जगत् को पूरी तरह से असत् मानकर उसे ही माया कहते हैं। अद्वैत वेदान्त में उदाहरण के लिये संसार को रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजत, स्वप्न आदि कहकर जो माया को मिथ्या कहा गया है वह वस्तुतः रूपक के रूप में कहे गये हैं और इन शब्दों को रूपक के अर्थ में ही ग्रहण करना चाहिये। शंकराचार्य ने सत् और असत् शब्दों को निरपेक्ष अर्थ में प्रयोग किया है। सत् वह है जसे सर्वदा वर्तमान है, जैसे सदैव सत्य है। जिसकी सत्यता स्वयं प्रकाश है, जिसे सत् बताने के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इस अर्थ में ब्रह्म ही केवल सत्य है। इसी प्रकार निरपेक्ष असत् का अदाहरण वन्ध्यापुत्र या आकाश कुसुम कहा जा सकता है।

यह दृष्य जगत् न सत् है और न असत् है। यह ब्रह्म की तरह निरपेक्ष सत्ता भी नहीं है तथा खरगोश की सींग की तरह से असत् भी नहीं है, इसीलिये इसे अनिर्वचनीय कहा गया है। यह एक सापेक्ष, शान्त, संवृत्ति है। यह निष्पक्ष रूप से सत्य तो नहीं है, जैसा कि आत्मन् या ब्रह्मन्, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष रूप से दृष्य जगत् की अपनी सत्ता है और वह सत्य है। इस दृष्य जगत् की सत्ता सर्वकालिक न होकर अनित्य है। इस जगत् को जिस सत्ता से वंचित किया गया है, वह उसकी अनित्यता है। मनुष्य तब तक जगत को सत्य स्वीकार करता है जब तक उसे निरपेक्ष सत्य का ज्ञान न हो जाय। इस प्रकार इस जगत की सत्यता तभी खण्डित हो सकती है जब ब्रह्मानुभूति होती है, उसके पहले नहीं।

ब्रह्मानुभूति इस दृष्य जगत् को निरस्त कर देती है। यह ठीक वैसे ही है जैसे जब तक हम स्वप्न संसार से नहीं जागते, स्वप्न हमें सत्य लगता है जागने पर

ही हम इस निष्कर्श पर आते हैं कि जो हम सोते समय देख रहे थे, वह सत्य नहीं स्वप्न था। जिस तरह स्वप्न अवस्था को जाग्रत अवस्था खण्डित करती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मानुभूति ही दृष्य जगत् को खण्डित कर सकती है और जब तक यह खण्डित नहीं होता, यह सत्य बना रहता है। अतः दृष्य जगत् सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये सत्य है।

जगत् की सत्ता व्यावहारिक सत्ता है। शंकराचार्य ने न केवल जगत् को ही एक विशेष प्रकार की व्यवहारिक सत्ता से सम्पन्न किया है बल्कि उन्होंने तो स्वप्न और भ्रांतियों को भी सत्ता से पूरी तरह बंचित नहीं किया। कोई भी प्रतीति इतनी निम्न स्तरीय नहीं होती जो ब्रह्म के आलिंगन से छूट सके। क्योंकि हर जगह ब्रह्म ही प्रतीत होता है, वही भासित होता है, अतः हर अभाव में कुछ अंश तक तो सत्य होती ही है। स्वप्न में जब तक कोई दृष्य देख रहे होते हैं, तब तक वह बिल्कुल सत्य ही दिखता है। स्वप्न का ''जल'' स्वप्न की ''प्यास'' भी बुझाता है।

शंकराचार्य ने जिन त्रिविध सत्ताओं को स्वीकार किया है उसमें व्यावहारिक सत्ता ही यह दृष्य जगत् है। सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिये यह दृष्य जगत् सत्य है। हम जब तक व्यावहारिक जगत् में है, वह मिथ्या नहीं है। यह मिथ्या तभी होता है जब ब्रह्मानुभूमि से खण्डित हो जाता है। वस्तुतः इस जगत् को मिथ्या कहकर इसका निरादर करना अज्ञानता हैं, क्योंकि ब्रह्मानुभूति होने के पूर्व इस जगत् का निरादर अज्ञानता का ही सूचक है और जो ब्रह्मानुभूति को प्राप्त कर चुका है, उसे इस जगत् को मिथ्या कहने का कोई औचित्य ही नहीं हैं, क्योंकि वह सच और झूठ से परे उठ चुका होता है।

द्वितीय अध्याय

मोक्ष की अवधारण :- स्वरूप एवं साधन

मोक्ष का स्वरूप एवं साधनः- मोक्ष ज्ञानरूप हैं, अर्थात् ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। वह पारमार्थिक ज्ञान है जिसमें जीव एवं ब्रह्म के अभेद की अनुभूति होती है साधक को 'मैं ब्रह्म हूँ' ज्ञान प्राप्त हो जाता है। बन्धन की समाप्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति एक ही क्षण धटने वाली दोनों धटनायें हैं। अविधा से अवच्छिन्न जीव बन्धन में पड़ जाता है, जहां आत्मा और अनात्मा की भेद बुद्धि नहीं रहती है तथा अनात्मा के धर्मों को आत्मा के धर्म समझाने का भ्रम जीव को कर्म-फल के चक्र में डाल देता हैं, जिससे जीव बन्धन में पड़ जाता है। इस बन्धन की निवृत्ति जब तक नहीं होती, तब तक जीव मुक्त नहीं हो पाता। इस प्रकार बन्धन की निवृत्ति मोक्ष इसे पच्चदशी में इस प्रकार कहा गया है :-

अद्वयानन्दरूपस्य सद्वयत्वं च दुःखिता।[187]
बन्धः प्रोक्तः स्वरूपेण स्थितिर्मुक्तिरितीर्यते।।

तात्पर्य यह कि अद्वितीय ब्रह्म का वस्तुतः बन्ध या मोक्ष तो होता नहीं। इसलिये अद्वय-आनन्दरूप को द्वितीय के सहित या दुःखी आदि समझना ही बन्धन है और उसका स्वरूप में स्थित हो जाना, बन्ध की निवृत्ति हो जाना ही मोक्ष है। यह मोक्ष ज्ञान से ही प्राप्त हो सकता है, ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं। पंचदशीकार लिखते हैं :-

मुक्तिस्तु ब्रह्म तत्तवस्य ज्ञानादेव न चान्यथा।[188]
स्वप्रबोधं बिना नैव स्वस्वप्नो हीयते यथा।।

मुक्ति तो ब्रह्म तत्व के ज्ञान से ही होती है, और किसी प्रकार से मुक्ति नहीं होती। जैसे अपने के बिना निद्रा में कल्पित स्वप्न का निराकरण नहीं होता, ऐसे, ब्रह्म तत्व ज्ञान के बिना अपना संसार नहीं हटता। इस प्रकार जो मोक्ष प्रतिबन्धक अज्ञान है, उसके हट जाने के बाद ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्मज्ञान का उपयोग मोक्ष प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति करता है इस बात के प्रतिपादन के लिये भाष्यकार आगे कुछ उपनिषद् वाक्यों एवं न्याय के मत का उल्लेख करते हुये लिखते हैः- "त्वंहि न पिता0"[189] आप हमारे पिता है जो ब्रह्म ज्ञान के द्वारा अविद्या के पार उतारते हैं अर्थात् मोक्ष प्रतिबन्धक अज्ञान को ब्रह्म ज्ञान द्वारा दूर कराने में सहायक होते हैं। छान्दोग्य में कहा गया है - "श्रुत्रं होव में भगवद् दृशेभ्यस्तरति"[190] हे भगवन्। मैने आप जैसे ब्रह्मज्ञानियों से यह सुना है कि आत्मा का साक्षात्कार करने वाला शोक के पार पहुंच जाता है। ब्रह्म ज्ञान के द्वारा उसके शोक जनक अज्ञान का नाश होकर उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है। हे भगवन्! मैं शोक में पड़ा हुआ हूं आप मुझे कृपापूर्वक शोक के पार पहुंचाइये। छान्दोग्य में कहा गया है- "तस्मैमृदितकशय"[191] जिसने अपने कशायों (रागद्वेशादि दोषों) को दूर कर दिया है ऐसे उस नारदमुनि को भगवान् सनत्कुमार अज्ञान के पार पहुंचाते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश करके मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनाते हैं। ये सभी श्रुतियां मोक्ष के प्रतिबन्धक अज्ञान की निवृत्ति मात्र को आत्म ज्ञान का फल बताती हैं। अज्ञान निवृत्ति ही आत्म ज्ञान का फल है।

उपनिषद्वों में प्रतिपादित यह जीव तथा ब्रह्म का अभेद संपद्रूप नहीं है। जैसे "मन अनन्त है और विश्वे देवं भी अनन्त है, इसलिये जो मन की विश्वेदेव के रूप में उपासना करता है, वह उससे अनन्त लोकों को विजय करता है। यह सम्पत् का उदाहरण है उसमें मन के ऊपर विश्वेदेव का आरोप किया गया है, और उस आरोप्यमाणं विश्वेदेवे की प्रधानता इंगित है, किन्तु "तत्त्वमसि" जीव और ब्रह्म के अभेद प्रतिपादक वाक्य इस कोटि में नहीं आते।

वह अध्यासरूप भी नहीं है। जैसे "मन की ब्रह्म रूप में उपासना करें। आदित्य ब्रह्मरूप है यह उपदेश है" इत्यादि में मन तथा आदित्य आदि में जो ब्रह्म दृष्टि कही गयी है वह अधिष्ठान की प्रधानता के कारण अधिष्ठान प्रधानोक्रध्यासः" इस लक्षण के अनुसार अध्यासरूप है। किन्तु तत्वमसि आदि वाक्यों में इस प्रकार का अध्यासमूलक अभेद व्यवहार भी नहीं है।

न वायु सवंर्ग है "प्राण संवर्ग है" इत्यादि के समान "विशिष्ट क्रिया योग निमित्तकव्यवहार" भी नहीं है। यजमान की "पत्नी धृत को देखे" इत्यादिक के

समान ''कर्माङ् संस्कार रूप'' भी नहीं है क्योंकि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान को सम्पदादिरूप मानने पर निम्नलिखित तीन दोष उत्पन्न होते हैं।

1 ''तत्वमसि'' ''अहं ब्रह्मास्मि'' ''अयमात्माब्रह्म'' इत्यादि वाक्यों का अभेद का प्रतिपादन करने वाले पदों का समन्वय बाधित होगा। अर्थात् उनको वाच्यार्थ न लेकर लक्षण आदि द्वारा दूसरे प्रकार स उनकी संगति लगानी होगी।

2 इस अनादि अनन्त ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर हृदय की ग्रन्थि स्वयं खुल जाती है और सारे संशय स्वयं नष्ट हो जाते है'' इत्यादि वाक्यों द्वारा कहे गये अविद्या निवृत्तिरूप फल का श्रवण भी बाधित होगा। इसलिये उपनिषदों मे प्रतिपादित आत्म ज्ञान का फल बाधित हो जायेगा।

3 और ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म रूप ही हो जाता है। इस प्रकार के ब्रह्मरूपता प्राप्ति के वचन सम्पदादिपक्ष में ठीक तरह से संगत नहीं हो सकेंगे। इसलिये जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन सम्पदादिरूप नहीं है। इसलिये ब्रह्म विद्या पुरूष के व्यापार के अधीन नहीं हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत होने वाली वस्तु के ज्ञान के सदृश ''वस्तुतंत्र'' अर्थात् वस्तु के अधीन है।

ब्रह्म के साथ किसी भी क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता। इसलिये उसे उपासना क्रिया का अंग नहीं कह सकते और ब्रह्म विद्या पुरूष व्यापार के अधीन नहीं है अपितु वस्तुतंत्र है अर्थात् जैसी वस्तु है उसको यदि उस रूप में ग्रहण किया जायेगा तब तो वह यथार्थ ज्ञान कहलायेगा और यदि पुरूष अपनी इच्छा के अनुसार पुस्तक को धट कहने लगे तो वह यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उत्पन्न ज्ञान सदा ''वस्तुतंत्र'' ही होता है, अर्थात् जैसी वस्तु है उसको उसी रूप में ग्रहण करने वाला ज्ञान ''वस्तुतंत्र कहलाता है। उसमें पुरूष व्यापार काम नहीं देता। इसलिये यथार्थ ज्ञान पुरूष व्यापार तंत्र नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्म विद्या भी पुरूष व्यापार तंत्र नहीं है। जैसा ब्रह्म है उसको उसी रूप में ग्रहण करने वाला ज्ञान यथार्थ ज्ञान होता है। जो सम्पदादिरूप ज्ञान कहे गये है वे सब वस्तु तंत्र नहीं अपितु पुरूष व्यापार तंत्र हैं। मन को मन समझना तो वस्तुतंत्र या यथार्थ ज्ञान हैं, किन्तु मन को ब्रह्म समझना इसका वस्तु के स्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह पुरूष की कल्पना मात्र है इसलिये यथार्थ ज्ञान है। ब्रह्म विद्या वस्तुतंत्र है, इसलिये वह यथार्थ ज्ञान है। शंकराचार्य यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म विद्या के साथ किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। इसी बात को वे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं :-

ब्रह्म या उसके ज्ञान के साथ किसी भी युक्ति से कार्य का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता। इस पर पूर्वपक्षी यह शंका कर सकता है कि ब्रह्म का ज्ञान अपेक्षित होने से उसे "विदिक्रिया का कर्म" तो मानना ही होगा किन्तु भाष्यकार उसका खण्डन करते हुये लिखते है कि विदिक्रिया के कर्मरूप में भी ब्रह्म के साथ क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि उपनिषदों में कहा है कि ब्रह्म विदित विदिक्रिया के कर्मरूप वेद्य पदार्थों से भिन्न है और अविदित (अज्ञात्) पदार्थों से भी भिन्न है[192] आदि श्रुतियों के द्वारा उसकी विदिक्रिया की कर्मता का निषेध होने से ब्रह्म को विदिक्रिया का कर्म नहीं कहा जा सकता है और जिससे इस बात का ज्ञान होता है उसको ब्रह्म किस साधन से जानोगे? अर्थात् किसी और मार्ग से नहीं जाना जा सकता है। इस श्रुति से भी ब्रह्म की विदिक्रिया कर्मता का निषेध किया गया है। इसलिये ब्रह्म के साथ किया का संबंध नहीं जोड़ा जा सकता है।

उपासना क्रिया के कर्मरूप में भी ब्रह्म के साथ क्रिया का संबंध नहीं हो सकता है क्योंकि जिसका वालीवर्ग नहीं कर सकती है और जिसके द्वारा वाणी स्वयं अपने स्वरूप को प्राप्त करती है। इस प्रकार ब्रह्म की विषयता का निषेध करके फिर उसी को ब्रह्म समझना असंगत होगा। जिसकी उपासना की जाती है वह ब्रह्म नहीं है इत्यादि श्रुतियों के द्वारा उपासना क्रिया की कर्मता का भी निषेध किया गया है। यह प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्म को अविषय कहा जाय तो उसमें शस्त्रयोनित्व अर्थात् शास्त्रप्रतिपाद्यत्व भी नहीं बनेगा, अर्थात् यदि ब्रह्म विषय न ही है तो वह शास्त्रं प्रतिपाद्य भी नहीं हो सकता है। इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार का कहना है कि शास्त्र केवल अविद्याकल्पित भेद हो सकता है। इसका उत्तर देते हुये भाष्यकार का कहना है कि शास्त्र केवल अविद्याकल्पित भेद की निवृत्ति मात्र करते हैं। ब्रह्म का प्रतिपादन करता है? इसके समाधान में कहते हैं - प्रत्यगात्मा जीवात्मा रूप होने से अविषय रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुये केवल अविद्या कल्पित वेद्य, वेदिता आदि के भेद का निषेध करने में शास्त्र का तात्पर्य है। जैसा कि शास्त्र में कहा है कि जो उस ब्रह्म का अविज्ञात मानता है वहीं उसको समझता है और जो मतम् मानता है वह उसके स्वरूप को नहीं समझता है। "ज्ञात समझने वालों के लिये वह ब्रह्म अज्ञात ही है और अज्ञात समझने वालों के लिये ही वह ज्ञात हैं[193] "द्रष्टा" मन आदि अन्तःकरण के साक्षीभूत ब्रह्म या आत्मा को नहीं देख सकते हो और ज्ञान के साक्षीभूत ब्रह्म को नहीं जान सकते हो"[194] इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म की विषमता का स्पष्ट निषेध किया गया है। इसलिये उसके साथ विदिक्रिया या उपासना क्रिया आदि के कर्म, रूप सम्बन्ध को भी नहीं जोड़ा जा सकता है अर्थात् वृत्तिकार जो ब्रह्म या उसके ज्ञान का उपासनाक्रिया के अंग रूप में मानना चाहते है वह उचित नहीं है।

इसलिये अविद्या कल्पित सांसारित्व की निवृत्ति द्वारा नित्यशु; बु; युक्त स्वभाव ब्रह्म के स्वरूप का द्योतन होने से मोक्ष की अनित्यता भी नहीं होती है। इसलिये ब्रह्म के साथ किसी भी रूप में क्रिया का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है। यदि क्रिया का सम्बन्ध जोड़ा जायेगा और उस क्रिया के द्वारा मोक्ष की सि; मानी जायेगी तो मोक्ष अनित्य हो जायेगा, अतः ब्रह्म के साथ उपासनादि किसी क्रिया का सम्बन्ध नहीं हो सकता है इसलिये वृत्तिकार का मत ठीक नहीं हैं। वृत्तिकार बोधायन "आत्मावा अरे द्रष्ट्वयः" इत्यादि को उपासना रूप बनाकर रूप बनाकर क्रिया से उसका संबंध जोड़ते हैं, उसके उत्तर में भाष्यकार कहते हैं कि वे स्वाभविक प्रवृत्ति के विषयों से विमुख करने के लिये है। जो पुरूष इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट की निवृत्ति भावना से बाध्य व्यापरों में प्रवृत्त होता है वह आत्यन्तिक पुरूषार्थ को प्राप्त नहीं कर पाता। उस अन्तिम पुरूषार्थ "मोक्ष" की इच्छा रखने वाले पुरूष को स्वाभाविक कार्य-कारण रूप प्रवृत्ति के विषयों से विमुख करके "आत्मावाअरे द्रष्टव्यः इत्यादि वचन अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने में प्रवृत्त करते हैं।

आत्म तत्व के अनुसंधान में प्रवृत्त उस पुरूष को आत्म स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये "इदं सर्व यदयमात्मा"[195] यह सब कुछ आत्म रूप ही है। जहां सब कुछ आत्म स्वरूप ही हो जाता हैं वहां किस प्रमाण से किस प्रमेय को देखे। ज्ञज्ञता को किस साधन से जाने"[196] "यह आत्मा ही ब्रह्म है"[197] इत्यादि वाक्यों के द्वारा अहेय और अनुपादेय अर्थात् विधि और निषेध दोनों के अविषयभूत आत्म तत्व का उपदेश दिया गया है। आनन्द बोध न न्यायमकरन्द में लिखा है कि अविद्या निवृत्ति ब्रह्मरूप नहीं है। उनका कहना है - अविद्यानिवृत्ति सद्रप नहीं हैं, क्योंकि वैसा होने पर अद्वैत की हानि होगी। वह असत् भी नहीं है क्योंकि यदि असत् होती तो वह ज्ञान से साध्य न होती। फिर वह सद्-असद् उभयरूप भी नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों रूप परस्पर हैं। वह अनिर्वचनीय भी नहीं हो सकती, क्योंकि अनिर्वचनीय तो स्वयं अविद्या ही है और अविद्या की निवृत्ति स्वयं अविद्या की भांति कैसे हो सकती है ?. अतः अविद्या निवृत्ति इन चारों प्रकारों से भिन्न पंचम प्रकार की है। जैसे यक्षानुरूप बलि की कल्पना की जाती है वैसे अविद्या निवृत्ति की भी एक विशिष्ट कल्पना की जानी चाहिये।[198] किन्तु निश्चलदास ने आनन्दबोध के इस मत का खण्डन वृत्तिप्रभाकर में किया है। उनका कहना है कि व्यावहारिक पदार्थ लोक में प्रसिद्ध हैं, अनिर्वचनीय पदार्थ भी इन्द्रजालकृत हैं - ऐसा लोक में प्रसिद्ध है। पारमार्थिक सत् पदार्थ एकमात्र ब्रह्म है, ऐसा शास्त्र में प्रसिद्ध है और विद्वानों के अनुभव में सिद्ध है। इनसे भिन्न कोई पदार्थ लोक और शस्त्र में प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये अविद्या निवृत्ति को एक पृथक् पदार्थ नहीं माना जा सकता क्योंकि वह

सर्वथा अप्रसिद्ध है। फिर अविद्या निवृत्ति पुरूषार्थ है। जो प्रसिद्ध पदार्थ होता है उसी में अभिलाशा रखना पुरूषार्थ है। अतएव अविद्या निवृत्तिको एक प्रसिद्ध पदार्थ होना चाहिये। वह कोई कल्पित पदार्थ नहीं, वह ब्रह्मरूप या आत्मरूप ही है।[199]

मोक्ष अविद्या निवृत्ति है। वह ज्ञानरूप है। वह ज्ञान से उत्पाद्य सेस्कार्य या प्राप्य नहीं है। वह गुणा प्राप्ति नहीं है। वह अध्यासरूप नहीं है। वह कल्पना नहीं है। वह निर्विकल्पक ज्ञान है। मोक्ष से अज्ञान नष्ट हो जाता है। जीव का मूल अज्ञान से सम्बन्ध टूट जाता है मोक्ष से कर्तव्य कर्म नष्ट हो जाते है। मोक्षावस्था में कोई कर्म सम्भव ही नहीं है क्योंकि कर्म बन्धनकारी तथा अविद्याजन्य है और मोक्ष में समस्त बन्धनों तथा सकल अविद्या का नाश हो जाता है। मोक्ष न तो देय है और न उपादेय है। वह नित्य प्राप्त है। उसका ज्ञान प्राप्त करना वास्तव में जो नित्य प्राप्त है उसकी प्राप्ति है और जो नित्य निवृत्त है उसकी निवृत्ति हैं।

मोक्ष दुःखाभाव के साथ ही साथ निरतिषय आनन्द या सुख भी है। वही सच्चा आनन्द है। अन्य सुख जो लोक में प्रसि; हैं वे उसी के लव कण हैं। किन्तु कुछ वेदान्तियों का मानना है कि आनन्द का वर्णन वास्तव में फलश्रुति है। वह ऐसा अर्थवाद है जिसका प्रयोजन मोक्ष पाने की उत्तेजना देना है। यह ज्ञानरूप मोक्ष सुख-दुःख से परे तथा दोनों है। मोक्षावस्था को दुःख की तरह सुख भी नहीं कहा जा सकता। मोक्ष एकत्व दर्शन है तथा वह जीव की वह अवस्था है जिसमें वह पूर्णतः स्वतंत्र, स्वरूपस्थ, प्रान्त तथा आत्मविभोर रहता है। यह उसका संप्रसाद है। यह रस रूप है, रसो वैसः। यह रस एक रस रहता है, वह क्षणिक या परिवर्तनशील नहीं है। मोक्ष इस जीवन में भी मिल सकता है और इस जीवन के बाद भी। पहले को जीवनमुक्ति तथा दूसरे को विदेहमुक्ति कहते हैं। जिस क्षण ब्रह्मज्ञान हो जाय उसी क्षण जीव मुक्त हो जाता है, ब्रह्म वेत्ता हो जाता है।

विदेह मुक्ति में इस देह का अस्तित्व नहीं रहता। वह इस देह के पात के अनन्तर प्राप्त होती है। जीव-युक्ति में देह का अस्तित्व रहता है। इस पर लोग शंका करते हैं कि जीवन्मुक्ति कैसे सम्भव है? यदि युक्ति है तो देह नहीं रह सकता क्योंकि देह अविद्याकृत है और मुक्ति अविद्या निवृत्ति है। फिर यदि देह है, तो मुक्ति नहीं हो सकती। अतः जीवन्मुक्ति असम्भव है। इस शंका का समाधान वेदान्ती अविद्यालेश के द्वारा करते हैं। उनका कहना है कि मुक्त जीव में मुक्ति प्राप्ति के क्षण कुछ अविद्या रह जाती है जो अविद्यालेश की जाती है। इस अविद्यालेश के कारण शरीर कुछ काल तक रहता है। अविद्यालेश क्या है? इस पर कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान से आवरण के नष्ट होने के बाद भी प्रारब्ध के कारण जो अज्ञान

का विशेषांश रहता है, वही अविद्यालेश है, उसी से जीवनं रहता है। जैसे हींग के डिब्बे के धोने पर भी उसकी वासना रह जाती है, वैसे ही अज्ञान की वासना का रहना अविद्यालेश है। इस अविद्यालेश के कारण जब तक प्रारब्धकर्म भोग नहीं लिये जाते हैं तब तक मुक्त जीव का भी देह रहता है। मुक्त जीव अपने संचित तथा क्रियामाण कर्मों को ध्वस्त कर देता है। अतः प्रारब्ध के समाप्त होने पर उसका देहपात होता है और पुनः उसका पुनर्भव नहीं होता है क्योंकि जिनसे पुनर्भव होता है वे नष्ट हो गये होते हैं।

किन्तु सर्वज्ञात्ममुनि कहते हैं कि ज्ञान से सकल अविद्या का नाश होता है और अविद्यालेश नाम की कोई वस्तु नहीं है। अतः उनके मत से जीवन्मुक्ति असम्भव है। मुक्ति वास्तव में विदेह मुक्ति ही है। मुक्ति में देह का पात आवश्यक है। उनके मत से जीवन्मुक्ति विषय कथन अर्थवाद है और वे मुमुक्षु को केवल मोक्ष प्राप्त करने को उत्तेजित करते हैं। किन्तु जीवन मुक्ति के पक्ष में अनेक प्रमाण हैं। प्रत्यक्स्वरूप कहते है। - ''ज्ञान अविद्या का निवर्तक है। अविद्या निवृत्ति ज्ञानोदय के समय ही होती हैं, क्योंकि विधिन होने से उसका फल कालान्तर में नहीं होता है। कालान्तर में फल केवल विधि कर्म का ही होता है। शुक्तिका आदि में तत्व ज्ञान होते समय ही रजतादि का भ्रम दूर हो जाता है। निवृत्ति नहीं कर सकता। जीवन काल में ही अविद्या निवृत्ति नहीं कर सकता, तो वह कालान्तर में भी निवृत्ति नहीं कर सकता। जीवन काल में ही अविद्या निवृत्ति होती है क्योंकि जीवन के बाद ज्ञानोत्पत्ति के साधन इन्द्रियादि के रहने से ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस तरह यदि मुक्ति है तो वह जीवनमुक्ति ही है और यदि जीवनमुक्ति नहीं है तो मुक्ति ही नहीं है।[201]

शंकराचार्य कहते हैं कि मोक्ष अशरीरत्व है और वह नित्य सिद्ध है। मोक्षाख्यम् अशरीरत्वम् नित्यमिति सिद्धम्[202]। वे फिर कहते हैं - क्योंकि सशरीरत्व मिथ्याज्ञान निमित्त है और मिथ्याज्ञान के निराकरण के बाद सशरीरत्व नहीं रहता, इसीलिये जीवन काल में भी विद्धानों का अशरीरत्व सिद्ध है।[203] तस्मात् मिथ्याज्ञाननिमित्तत्वात् सशरीरत्वस्य, सिद्धं जीवतोऽपि विदुषोऽशरीरत्वम्''। तब प्रश्न उठता है कि जीवन्युक्त का शरीर क्यों रहता है? इसका उत्तर देते हैं कि जीवन्युक्त के लिये शरीर नहीं रहता, वह देहस्थ नहीं है। उसका देह दूसरों के लिये हैं, दूसरों के सम्बन्ध में है। उसका देह उसके लिये नहीं है। वह पूर्णतः अपने देह से परे है। दूसरे लोग जो यह समझते है कि वह अपने देह का व्यापार करता है वह अज्ञान दृष्टि है। वस्तुतः वह अशरीर होकर सशरीर की भांति व्यवहार करता हुआ केवल आभासित होता है। ज्ञानी की दृष्टि में उसका शरीर नहीं है। देह की प्रतीति

सोपाधिक भ्रम है जैसे दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब। सोपाधिक भ्रम दूर हो जाने पर भी कुछ प्रभाव दिखाता है। उसके सत्य की कुछ प्रतीति होती है। यही दशा जीवन्युक्त के देह की भी हैं। वह जानता है कि उसका देह मिथ्या है। किन्तु चूंकि यह मिथ्या सोपाधिक है, अतः निवृत्त हो जाने पर भी इसकी प्रतीति रहती है। किन्तु शंकराचार्य कहते है कि इस विषय पर विवाद नहीं करना चाहिये। ज्ञानी की चर्चा को अज्ञानी कैसे समझ सकते हैं। जीवन्मुक्ति वेदान्त का आदर्श है। यही परम पुरूषार्थ है। यदि इसी जीवन में यह प्राप्त हो गया तो मनुष्य कृतकृत्य या आप्तकाम हो जाता है। यह न मिला तो जीवन व्यर्थ समझा जाता हैं। मानव जीवन का एकमात्र लक्ष्य जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति के अतिरिक्त कुछ वेदान्ती विद्रोह मुक्ति को भी मानते हैं। विदेह मुक्ति का अर्थ है कि इस देह के नष्ट होने के बाद मुक्ति मिलती है। यह प्रश्न उठता है कि देहपात के बाद मुक्ति कैसे मिलती है? वेदान्त यहां देवयान-मार्ग को मानता है। जो श्रौत उपासना करते हैं या जो लोग भक्ति करते हैं वे मरने के बाद अर्थि को प्राप्त होते हैं। फिर वे अर्थि से दिवस को, दिवस से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के मासों को, इन मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को और चन्द्रमा से विद्युत को प्राप्त होते हैं। वहां एक अमानव पुरूष रहता है। वह उसको ब्रह्म लोक तक ले जाता है। यह देवयान मार्ग है। ब्रह्म लोक में जब तक ब्रह्म का जीवन रहता है तब तक तो मनुष्य वहां पहुंचते है वे वही रहते हैं तथा वे तब तक मृत्यु लोक को नहीं लौटते। किन्तु प्रलय के बाद सृष्टि-क्रम जब पुनः आरम्भ होता है, तो ब्रह्म समेत वे सभी मनुष्य पुनः प्रकट होते हैं और वे पुनः मृत्युलोक में आते हैं।

इस प्रकार जिनको इस जगत् में ब्रह्म ज्ञान नहीं हुआ वे ब्रह्म लोक में ब्रह्म का सामीप्य लाभ करके प्रलय पर्यन्त रहते हैं। यदि उन्हें वहां ब्रह्म ज्ञान हो गया तो वे वहीं मुक्ति लाभ कर लेते हैं। यही विदेह मुक्ति है। यदि उन्हें वहां ब्रह्म ज्ञान न हुआ तो वे पुनः सृष्टि के पुनः आरम्भ होने पर प्रकट होते है और जन्म-मरण के चक्र में पड़े रहते हैं। प्रश्न यह उठता है कि विदेह मुक्ति का वास्तविक रूप क्या हैं? वह ब्रह्म लोक में वास करता है या ब्रह्म लोक में ब्रह्म ज्ञान पाकर मुक्त होता है? प्रायः विदेह मुक्ति का पहला अर्थ ही किया जाता है और इस अर्थ में विदेह मुक्ति वेदान्त के अनुसार मुक्ति नहीं है। वेदान्त के अनुसार वास्तव में विदेह मुक्ति ब्रह्म ज्ञान से ब्रह्म लोक में मिलती है। मुक्ति के विषय में एक दूसरा विवाद है कि मुक्ति सद्योमुक्ति है या क्रममुक्ति है? सद्योमुक्ति वह मुक्ति है जो ज्ञान होते ही मिलती है। क्रममुक्ति वह मुक्ति है जो क्रमशः प्राप्त होती है। देवयान मार्ग से प्राप्त होने वाली मुक्ति क्रममुक्ति है, वह सापेक्षिक मुक्ति है क्योंकि वह प्रलय पर्यन्त ही

रहती है। यद्यपि जब ब्रह्म सृष्टि के अन्त में ब्रह्मलीन होते है तो ब्रह्म लोक में पहुंचे हुये मनुष्य भी ब्रह्मलीन हो जाते हैं तथापि प्रलय के बाद जब पुनः सृष्टि होती है तो ब्रह्मलोक के निवासी पुनः मृत्यु लोक में अवतरित होते हैं। इसी कारण यह मुक्ति सापेक्षिक कही गयी है। इसके विपरीत सद्योमुक्ति वास्तविक मुक्ति है। उसको पाने वाला संसार चक्र से मुक्त हो जात है। सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेप शारीरक में सद्योमुक्ति को ही वास्तविक मुक्ति माना है। इसके लाभ से जगत् रूपी विवर्त सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है। ब्रह्मवेत्ता का देह विवर्त भी दूर हो जाता है।

सम्यग्ज्ञानविभावसुः सकलमेवाज्ञान तत्सम्भवं,
सद्योवस्तु बल प्रवर्त्तनमरूद्व्यापार सन्दीपितः।

निर्लेपेनहि दन्दहीति न मनागप्यस्य रूपान्तरं,
संसारस्य शिनष्टि तेन विदुषः सद्यो विमुक्तिर्ध्रुवा।।[204]

इस प्रकार सद्योमुक्ति इसी जीवन में मिलती है, फिर भी उसको जीन्मुक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि उसमें युक्त पुरूष का देह नहीं रहता है। मुक्ति के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया जाता है कि वह एक मुक्ति है या सर्व मुक्ति? तो जो वेदान्ती एकजीववादी हैं वे एक मुक्ति को मानते हैं। उनके मन से अन्य जीव है ही नहीं, अतः सर्वमुक्ति का प्रश्न ही नहीं अठता। अन्यत् का ज्ञान अज्ञान है तथा ज्ञान से वह अज्ञान दूर हो जात है। अतः एक मुक्ति ही मुक्ति है, उसके प्राप्त होने पर और कुछ रहता ही नहीं है। किन्तु नानाजीववादी वेदान्ती मानते हैं कि जीव केवल अपना मोक्ष प्राप्त करता है। एक जीव की मुक्ति दूसरे जीव को मुक्त नहीं करती है। अतः एक मुक्ति होने पर भी सर्वमुक्ति नहीं होती है। अब प्रश्न है कि जब एक ही आत्मा सभी जीवों में है तो एक के मुक्त होने से सभी जीवों को मुक्त हो जाना चाहिये। इस प्रश्न के उत्तर पर वेदान्ती कहते हैं। कि आत्मा एक है तथापि वह न तो बन्धन में हैं और न मुक्त है। उसके लिये बन्धन या मोक्ष नहीं है। बन्ध या मोक्ष जीव के लिये है। अतः जीव ही इस बन्धन से मुक्त होता है। इसलिये एक जीव का मुक्त होना अन्य जीवों का मुक्त होना नहीं है। इससे स्पष्ट है कि नानाजी व वादी वेदान्ती सर्वमुक्ति को नहीं मानते हैं। प्रत्येक जीव को अपने मोक्ष के लिये प्रयत्न आवश्यक है। एक जीव दूसरे जीव की सहायता कर सकता है, वह गुरू हो सकता है, सकता और पथ प्रदर्शन कर सकता है। किन्तु प्रत्येक जीव को स्वयं ज्ञान प्राप्त करना और मुक्त होना है।

मोक्ष का साधन :- अद्वैत वेदान्त मानता है कि केवल ज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है। ज्ञानादेवमुक्तिः अर्थात् बिना ज्ञान के मोक्ष नहीं मिलता है, ऋते

ज्ञानात् न मुक्तिः। इस मार्ग को ज्ञान मार्ग कहा जाता है। इस ज्ञान मार्ग में श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन तीन सोपान हैं। श्रवण का अधिकारी बनने के लिये साधक में चार योग्यतायें होनी चाहिये, जिसे साधन चतुष्ट्य कहते हैं।

1 नित्यानित्यवस्तु विवेकः नित्य क्या है? अनित्य क्या है? यह ज्ञान साधक को होना चाहिये। जो सदैव एक रूप से व्यवस्थित हो, वही नित्य है, और जो इससे भिन्न हो, वह अनित्य है।

2 इहामुत्रार्थभोगविराग। इह लोक तथा परलोक में भोग की इच्छा साधक में नहीं होनी चाहिये। आत्मा ही श्रेष्ठ है। अन्य सब वस्तुयें आत्मा के लिये ही हैं। "आत्मानस्तु कामाय सर्वप्रियं भवति" अर्थात् आत्म प्रेम के लिये सब प्रेम को छोड़ना चाहिये।

3 सम द्रम, उपारति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा इन छः गुणों को साधक को प्राप्त करना चाहिये। सम का अर्थ मानसिक नियंत्रण, दम का अर्थ इन्द्रिय निग्रह, उपरति का अर्थ विषयवासना से दूर हटना, तितिक्षा का अर्थ सहिणुता, समाधान का अर्थ शंकाओं का समाधान निकालना तथा श्र;ा का अर्थ स्वाभाविक विश्वास है।

4 मुमुक्षा का अर्थ मोक्ष प्राने की उत्कट इच्छा है। वेदान्त ज्ञान से लाभ पाने के लिये साधक का मुमुक्षु होना आवश्यक है।

उपर्युक्त चार साधनों से मुक्त होने पर ही साधक में ब्रह्म जिज्ञासा का प्रारम्भ होता है तथा वह ज्ञान प्राप्त करने के लिये वेदान्त में जिस ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया गया है। उसके तीन सोपान बताये गये हैं यथा श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन। इन सोपानों का वर्णन करते हुये वेदान्तसार में निम्नलिखित प्रकार से बताया गया है।

अपने स्वरूपभूत चैतन्य का साक्षात्कार होने तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि का अनुष्ठान करना अपेक्षित है। समस्त वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु में तात्पर्य है। इसका छः प्रकार के लिंगों से निश्चय करना श्रवण है। वे लिंग हैं- उपक्रम (प्रारम्भ) और उपसंहार (समाप्ति), अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति। किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाध अर्थ का प्रकरण के प्रारम्भ में और अन्त में उपपादन करना उपक्रम और उपसंहार है। जैसे छान्दोग्योपनिषद् में प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का "एकमेवाद्वितीयम"[205] अर्थात् एकमात्र अद्वितीय ही सत् है इन शब्दों में प्रारम्भ में और "एतदात्म्यमिदं सर्वम्"[206] अर्थात् यह जगत्

सत्संज्ञक आत्मा से आत्मवान् है इन शब्दों में अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

प्राकरण प्रतिपाद्य वस्तु का प्रकरण के मध्य में पुनः पुनः प्रतिपादन करना अभ्यास है। जैसे उसी प्राकरण में अद्वितीय वस्तु का "तत्त्वमसि इन शब्दों में नौ बार प्रतिपादन किया गया है। प्रतिपाद्य वस्तु का किसी अन्य प्रमाण श्रुति के अतिरिक्त द्वारा विषय न बनाया जाना अपूर्वता है। जैसे उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से अगम्य होना सूचित होता है। प्रकरण द्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का या आत्मज्ञान के लिये किये जाने वाले अनुष्ठान का जो प्रयोजन होता है, वही फल है। जैसे उक्त प्रकरण में "आचार्यवान् पुरूषोवेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येडय सम्पत्स्ये" अर्थात् आचार्यवान् पुरूष ही आत्मा को जानता है, उसके लिये तभी तक देर है जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, उसके पश्चात् तो वह ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है। प्रतिपाद्य विषय का प्रकरण में स्थान-स्थान पर प्रशंसा करना अर्थवाद है। जैसे वही पर कहा गया है कि "क्या तुमने आचार्य से यह उपदेश पूछा है, जिसके सुन लेने से बिना सुना हुआ हो जाता है, इसमें अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गयी है। प्रतिपाद्य अर्थ को सि; करने के लिये प्रकरण में स्थान-स्थान पर वर्णित होने वाली मुक्ति ही उपपत्ति है। जैसे "हे सौम्य। जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने से सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, विकार तो वाणी से आरम्भ होने वाला नाममात्र हैं, सत्य तो केवल मृत्तिका ही है[208] इत्यादि वाक्यों में अद्वितीय वस्तु को सि; करने के लिये मुक्ति प्रस्तुत की गयी है।

"श्रवणमनननिदिध्यासनसमाध्यनुष्ठानस्यापेक्षितत्वात्" - आत्मा साक्षात्कार के लिये वेदान्त में श्रवण, मनन, निदिध्यासन समाधि इन चार को साधन रूप से स्वीकार किया गया है। इनमें से प्रथम तीन का विधान वृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है - "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विध वाल्येन निष्ठासेद् वाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याय मुनिः"[209] अर्थात् इसलिये ब्राह्मण को चाहिये कि पाण्डित्य को जानकर वह मुनि योगी होता है। यही पर "पाण्डित्य" शब्द से श्रवण, "बाल्य" शब्द से मनन और "मुनि" शब्द से निदिध्यासन का विधान किया गया है। समाधि का विधान श्वेताश्वतरोपनिषद् के इस मंत्र से सूचित होता है - "तस्यामिध्यानद्योजनात्तत्वभावद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृतः"[210] अर्थात् उस परमात्मा के अभिध्यान से, उसमें मनोयोग करने से और तत्व की भावना करने से विश्वरूप माया की निवृत्ति हो जाती है। श्रवणम्- "गतिसामान्यात्" अर्थात् समस्त वेदान्त वाक्यों से होने वाला ज्ञान एकरूप है" इस न्याय का आश्रय लेकर "अशेषवेदान्तानाम्" कहा गया है और "न स्थानतोडपि परस्योभयलिंग सर्वत्र हि" अर्थात् परब्रह्म में सविशेष और निर्विशेष

रूप दो स्वभाव न तो स्वतः हो सकते है और न उपाधि के कारण, क्योंकि सभी वेदान्त वाक्यों में एकरूप निर्विशेष ब्रह्म ही उपदिष्ट है। इस न्याय के अनुसार ''अद्वितीय वस्तुनि'' पद से निर्विशेष ब्रह्म को ही ग्रहण करना चाहिये। वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म में ही तात्पर्य है इसका निश्चय विचार पूर्वक करना चाहिये, अन्य श्रद्धा से नहीं लिंगानि- जीव और ब्रह्म की एकतारूप जो छिपा हुआ अर्थ है उसका बोध कराने के कारण उपक्रमादि को लिंग कहा गया है। सर्वदर्शन संग्रह में वृहसंहिता का एक श्लोक जिसमें इन लिंगो को क्रम से गिनाया गया है-

उपक्रमोपसंहारवभ्यासोडपूर्वता फलम्।[212]
अर्थवादोपत्ती च लिंग तात्पर्यनिर्णये।।

अपूर्वता- मीमांसको और वेदान्तियों को यह निर्णीत सिद्धान्त है कि वेद में केवल उन्हीं विषयों का समावेश है, जो प्रत्यक्ष और तर्क से अगम्य हैं। शस्त्र केवल अज्ञात् का ज्ञापक है। उपनिषदों का ब्रह्म लोक सि; नहीं है। उपनिषदों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से उसका बोध नहीं हो सकता है। शंकराचार्य कहते हैं - ''पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि ब्रह्म के सिद्ध वस्तु होने के कारण उसमें अन्य प्रमाण भी सम्भव हों, यह उसका मनोरथ मात्र है। क्योंकि रूप आदि का अभाव होने से ब्रह्म प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं बन सकता है, और लिंग आदि का अभाव होने से अनुमान् आदि का भी विषय नहीं है। वह तो धर्म के समान आगममात्र से ज्ञातव्य हैं। कठोपनिषद् में इस विषय तर्क से दूर ही की जा सकती है। यह ध्यान विषयक बुद्धि तो तार्किक से भिन्न किसी शास्त्र आचार्य द्वारा उपदेश की जाने पर ही सम्यक् ज्ञान का कारण बनती हे'' यह श्रुति भी इसी बात को कहती है। उसे साक्षात् कौन जानता है, इस लोक में उसका यथार्थ स्वरूप कौन कह सकता है, ''यह विविध सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है'' ये दोनों ऋचाएं जगत् का कारणभूत ब्रह्मसिद्ध योगियों के लिये भी दुर्बोध है ऐसा प्रदर्शित करती है। ''जो पदार्थ अचिन्त्य है उसे तर्करूप कसौटी पर कसना उचित नहीं है'' यह आत्मतत्व अव्यक्त अचिन्त्य और अविकार्य है तथा देवतागण और महर्षि मेरी उत्पत्ति को ही जानते, क्योंकि मैं सब देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूं'' ये सब स्मृतियां भी सभी बात को प्रमाणित करती हैं।''[231]

आगम को छोड़कर किसी भी प्रमाण का विषय न होने के कारण ही ब्रह्म की अपूर्वता सिद्ध होती है। वस्तुतः ब्रह्मशास्त्र का भी विषय नहीं बन सकता है क्योंकि वँह स्वयं प्रकाश है। शास्त्र के द्वारा ब्रह्म का प्रतिपादन विषय रूप से नहीं, बल्कि प्रत्यगात्मा होने के कारण अविषय रूप से ही किया जा सकता है। श्रुतियों

के द्वारा केवल उपनिषदों से ही ज्ञेय होने के कारण ब्रह्म की अपूर्वता है अथवा ब्रह्म के स्वयं प्रकाश होने के कारण अपने से अतिरिक्त किसी प्रमाण की अपेक्षा न होने से ब्रह्म की अपूर्वता सिद्ध होती है।

तदनुष्ठानस्य - इन पद से आत्मज्ञान के अनुकूल श्रवणादि को ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि आत्मज्ञान में श्रवणादि साधन रूप से उपस्थित रहते हैं। श्रवणादि साधनों का प्रयोजन है ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान, और ब्रह्मज्ञान का फल है, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति। ''ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही हो जाता है''[214] और ''आत्मवेत्ता शोक को पार कर लेता है'' आदि श्रुतियों से यह बात सिद्ध होती है।

उपपत्ति :- कार्य और कारण में वस्तुतः कार्य की कोई सत्ता नहीं है मिट्टी से बने अनेक रूपों में मिट्टी ही सत् है। उसी प्रकार ब्रह्म से उत्पन्न यह सम्पूर्ण जगत् परमार्थतः ब्रह्म ही है। ब्रह्म से की प्रतिज्ञा सिद्ध होती है। जगत् का ब्रह्म से अभेद होने के कारण ब्रह्म ही अद्वितीयता सिद्ध होती है। ब्रह्मसूत्र में ''तदनन्यत्वारम्णशब्दादिभ्यः'' यह सूत्र इसी श्रुति वाक्य में वर्णित मुक्ति के आधार पर कार्य का कारण से अभेद सिद्ध करता है।

जिसका श्रवण किया गया है, उस अद्वितीय वस्तु का वेदान्त के अनुकूल तर्कोद्वारा निरन्तर चिन्तन करना ही मनन है। शरीरादि को विषय बनाने वाले विजातीय प्रत्ययों से रहित होकर अद्वितीय आत्मवस्तु के सजातीय प्रत्ययों को प्रवाहित करना निदिध्यासन है। समाधि दो प्रकार की होती है -सविकल्पक और निर्विकल्पक। इनमें ज्ञाता, ज्ञान और श्रेय का जो विकल्प है, उसके विलय की अपेक्षा न करके अद्वितीय वस्तु के आकार को धारण करने वाले चित्तवृत्ति का अद्वितीय वस्तु में स्थिर हो जाना सविकल्पक समाधि है। उस समय जिस प्रकार मिट्टी के बने खिलौने का मान होने पर भी वस्तुतः मिट्टी का ही मान होता है, उसी प्रकार द्वैत का मान होने पर भी द्वैत वस्तु भासित होती रहती है। इसी प्रकार उपदेश साहस्त्री में कहा गया है - ''जो चैतन्यधन, आकाश के समान, मायातीत, सदा एक प्रकाशित होने वाला, जन्मरहित, एक, अक्षर, निर्लिप्त, सर्वत्र व्याप्त और अद्वितीय है, वहीं मैं हूँ, अतः सर्वदा विमुक्त हूँ। ओम्''[216]

वेदान्तानुगुणयुक्तिभिः :- मनुष्य के द्वारा कल्पित शुष्क तर्कों का निराकरण करने के लिये ही ऐसा कहा गया है। वेदान्त में श्रुति के अनुकूल तर्क ही ग्राह्य हैं। आचार्य शंकर कहते है- यद्यमि श्रवण व्यतिरेकेण मननं विदधच्छ्वद एवं तर्कमत्यादर्तव्यं दर्शयती त्युक्तम्। नानेनभिशेण शुष्क तर्क स्यात्रात्म लाभः सम्भवति श्रुत्युनुग्रहित एवं हात्र तर्कोऽनुभवाड गत्वेनाश्रीयते।''[217] अर्थात् जो यह कहा गया है कि श्रवण

के अलावा मनन का विधान करती हुई श्रुति ही, तर्क का आदर करना चाहिये, ऐसा प्रदर्शित करती है। इस बयान से शुष्क तर्क को यहां पर अवकाश नहीं मिल सकता है। यहां श्रुति से अनुगृहीत तर्क ही ब्रह्मानुभव के सहायक रूप से स्वीकार किया जाता है। विद्यारण्य ने पच्चदशी में कहा है -

"युक्त्या सम्भावितत्वानुसंधानं मननं तु तत्"[218] अर्थात् श्रुति के द्वारा तत्व का निश्चय करने के अनन्तर असम्भावना आदि दोषों का निराकरण करने के लिये जो तर्क दिया जाता है, वही श्रुत्यनुगृहीत तर्क कहलाता है। इसी प्रकार मनुस्मृति में कहा गया है :-

आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्रविरोधिना।[219]
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतरः।।

अर्थात् "जो ऋषियों के द्वारा दिये गये धर्मोपदेश का वेद तथा शास्त्र के अविरोधी तर्क द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्म के यथार्थ रूप को जानता है दूसरा नहीं।" यहां पर धर्म शब्द ब्रह्म का भी उपलक्षण है।

निदिध्यासन् - वाहय पदार्थों से लेकर बुद्धि पर्यन्त सभी जड़ पदार्थ आत्मा के विजातीय हैं, अतः तद्विशयक प्रत्ययों के भी बिजातीय होने से उनका परित्याग करके आत्मतत्व विषयक सजातीय प्रत्ययों को तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित करना निदिध्यासन है। विद्यारण्य ने पच्चदशी में निदिध्यासन का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया है -

ताम्यां विर्विचिकित्सेडर्ये चेतसः स्थापितस्य यत्।[220]
एकतानत्व में तद्धि निदिध्यासनमुच्यते।।

अर्थात "श्रवण और मनन के द्वारा जब आत्मा के विषय में किसी प्रकार का संशय न रह जाय, तो आत्मा में लगाये गये चित्त की एकता अर्थात सदृश वृत्तियों का प्रवाह निदिध्यासन कहलाता है।"

सविकल्पक समाधि :- सविकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के त्रिपुटी का विलीन होना आवश्यक नहीं है। चित्तवृत्ति आत्म स्वरूप से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है, परन्तु इस बात का मान होता रहता है कि मैं ज्ञाता हूँ, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। उस स्थिति का वर्णन करते हुये ग्रन्थकार कहते है कि जिस प्रकारकुम्हार के द्वारा बनाये गये मिट्टी के बर्तन में बर्तन का मान होने पर भी उसके मिथ्यात्व का ही मान होता है, सत्यता केवल मिट्टी की ही भासित होती है, उसी प्रकार अद्वैताकार चित्तवृत्ति में ज्ञाता, ज्ञान और

ज्ञेय का मान होने पर भी उसके मिथ्यातव का निश्चय होता है, सत्यता केवल अद्वैत की ही भासित होती है।

सविकल्पक समाधि के अनन्तर निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप प्रदर्शित करते हुये कहते हैं कि ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का जो विकल्प है, उसके विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वैताकार चित्रवृत्ति काअद्वितीय वस्तु में अत्यन्त एकी-भाव से स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु में आकार को धारण करने वाली चित्रवृत्ति का मान नहोकर केवल अद्वितीय वस्तु का ही मान होता है। निर्विकल्पक समाधि :- निर्विकल्पक समाधि में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की त्रिपुटी समाप्त हो जाती है। चित्रवृत्ति ज्ञेय के साथ ऐसा आत्यान्तिक तादात्म्य प्राप्त कर लेती है कि चित्रवृत्ति का मान भी समाप्त हो जाता हैं, केवल ज्ञेय का ही मान रह जाता है। ग्रन्थकार ने पानी में धुले हुये नमक का उदाहरण देते हुये कहा है कि जब नमक पानी में धुल जाता है तो नमक का अस्तित्व होने पर उसका मान नहीं होता, केवल पानी का ही मान होता है, इसी प्रकार ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेने के बाद चित्रवृत्ति का अस्तित्व रहने पर भी उसका मान नहीं होता, केवल ब्रह्म का ही मान होता है। समाधि के इस स्वरूप को प्रदर्शित करे हुये पच्चदशी में विद्यारण्य में लिखा है कि -

ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद् ध्येचैक गोचरम् ते।[12]
निवातदीपवच्चित्त्रं समाधिरभिधीय ते।।

यथादीपो निवातस्य इत्यादि मिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमजुनाय न्यरूपयत्।।

अर्थात् जब चित्त सविकल्पक समाधि में भासित होने वाले ध्याता, ध्यान और ध्येय में से अभ्यास के बल से ध्याता और ध्यान का परित्याग कर देता है, और ध्येयमात्र ही उसका विषय रह जाता है, तो उस अवस्था को समाधि कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में ''यथादीपोनिवातस्य'' भी श्लोकों से अर्जुन के लिये इसी निर्विकल्पक रूप समाधि के अर्थ का अनेक प्रकार से निरूपण किया है। शमतीर्य ने अपनी विद्वमनोरज्ज्नीटीका में सविकल्पक को सम्प्रज्ञात समाधि तथा निर्विकल्पक को असम्प्रज्ञात समाधि बताया है। वस्तुतः सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात ये दोनों शब्द योगदर्शन के हैं। असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन होती है। वेदान्तसार में वर्णित निर्विकल्पक समाधि सालम्बन है, क्योंकि उसमें अद्वितीय वस्तु ''चित्रवृत्तित्र का आलम्बन बनती हैं, अतः इसे असम्प्रज्ञात की कोटि में रखना ठीक नहीं जान पड़ता हैं। विद्यारण्य का अनुसरण करते हुये इसको धर्ममेध समाधि माना जा सकता है,

जो इस प्रकार है :-

अनादावि संसारे च्चिताः कर्मकोध्यः।
अनेनविलयंयान्तिशुद्धो धर्मोविवर्धते।।[222]

धर्ममेध मियं प्राहुः समाधि योगवित्तयाः।
वर्षत्येश य तो धर्मामृतधाराः सहस्त्रशः।।

अर्थात् "इस अनादि संसार में पुण्यपापरूप जो करोड़ो कर्म सच्चित हुये हैं, वे सब इस समाधि से नष्ट हो जाते हैं, तथा शुद्ध धर्म वुद्धि को प्राप्त होता है। चूंकि यह समाधि धर्मरूपी अमृत की सहस्त्रों धराओं की वर्षा करती हैं, इसलिये सर्वश्रेष्ठ योगीजन इसको धर्ममेध समाधि कहते हैं।" निर्विकल्पक समाधि का स्वरूप प्रदर्शित करने के बाद उसके अंगो का निरूपण किया गया है। इस समाधि के जो आठ अंग गिनाये गये हैं। इन्हीं को पातञ्जलयोगसूत्र में योग का अंग बताया गया है।

"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोडष्टावङगानि"[223]

इससे सि; होता है कि अद्वैत वेदान्त को योगदर्शन की साधना प्रक्रिया पूर्णरूपेण ग्राहय है। सांख्य के पुरूष प्रकृति विषयक आध्यात्मिक सि;ान्त तो शंकराचार्य को मान्य नहीं है, परन्तु शंकराचार्य कहते हैं- "अर्थैक देश सम्प्रतिवत्तावप्ययैकदेशविप्रतिपत्तेःपूर्वोक्ताया दर्शनात्"[224] अर्थात् योगदर्शन के प्रतिपाद्य अर्थ के एक देश में अर्थात् साधन प्रक्रिया में हमारा एकमत्य होने पर भी ;सि;ान्त पक्षद्ध एक देश में हमारा पूर्वोक्त मतभेद दिखायी देता है। यम - शंकराचार्य ने यम का स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित किया है -

सर्व बह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः।[225]
यमोडयामिति सम्प्रोक्तोडम्यसनीयों मुहुर्मुहः।।

"सह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है" ऐसा समझकार इन्द्रियों को निमंत्रित करना यम कहा गया है, इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिये। अहिसादि का स्वरूप प्रमाणिक ग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है -

अहिंसा :- वाणी, मन और शरीर से दूसरों को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है। व्यासभाष्य में कहा गया है- "अहिंसासर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः"[226] अर्थात् सर्वथा, सर्वदा सभी प्राणियों के साथ द्रोहरहित होना अहिंसा है।

सत्य :- सत्य का निरूपण करते हुये विद्वन्मनोरञ्जनी में कहा गया है - "सत्यं यथार्थ भाषणम्" अर्थात् वस्तु स्थिति का बिना अतिप्रमण किये हुये बोलना

सत्य है । इसी प्रकार व्यासभाष्य में कहा गया है- "वाणी और मन का यथार्थ होना, अर्थात् जैसा देखा, जैसा अनुमान् किया और जैसा सुना, मन और वाणी का बिल्कुल वैसा ही होना सत्य है।"[227]

अस्तेय :- "अस्तेयमदत्तादानरूपपरस्वहरणराहित्यम्"[228] अर्थात् बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करने से बचना अर्थात् दूसरे की वस्तु का अपहरण न करना अस्तेय है इसी प्रकार व्यासभाष्य में कहा गया है - "स्येमशास्त्रपूर्वकं देवयाणां परतः स्वीकारणम् तत्प्रेतिशेधः, पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति" अर्थात् शास्त्रविधि के बिना दूसरे से द्रव्य स्वीकार करना स्तेय है और इसका प्रतिशेध आस्तेय है।

ब्रह्मचर्य :- व्यासभाष्य में ब्रह्मचर्य का लक्षण बताते हुये कहते है - "ब्रह्मचर्य गुप्तेनिद्रयस्योपस्थस्य संयमः" अर्थात् जिसने अपनी इन्द्रियों को वशीभूत कर लिया है, ऐसे जितेन्द्रिय पुरूष या नारी का अपनी उपस्थेन्द्रिय को निमंत्रण में रखना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह :- विद्वत्मनोरज्जनी में रामतीर्थ ने अपरिग्रह कालक्षण बतलाते हुये कहा है कि- "समाध्यनुष्ठानाभुपयुक्तस्य" वस्तुमात्रस्याक्कसंग्रहोक्कपरिग्रहः । अर्थात् समाधि का अनुष्ठान करने में जिन वस्तुओं का कोई उपयोग नहीं हैं, उनका संग्रह न करना अपरिग्रह है। योगभाष्य में कहा गया है - "विषयाणामर्जनरक्षपक्ष्य सङगहिंसा दोषदर्शनाद स्वीकरणम् परिग्रहः" तात्पर्य यह है कि सांसारिक विषय योगों में अनेक प्रकार के दोष दिखायी पड़ते है। सबसे पहले तो उनका उपार्जन करने में ही बड़ा कष्ट होता है। उपार्जन के पश्चात् उनकी रक्षा करने में भी कष्ट होता है। रक्षा करने पर भी उपार्जित द्रव्य जब नष्ट हो जाता है, तो अतिशय दुःख होता है, क्योंकि भोगों को भोगते रहने से उनके प्रति आसक्ति हो जाती है और उनके बिना रहने कठिन होता है। इसलिये आवश्यकता से अधिक विषयों का संग्रह नहीं करना चाहिये।

नियम :- पांच प्रकार के नियम बतलाये गये हैं।

शौच :- बाहय और आन्तरिक शुि; शौच कहलाती है, याज्ञवल्क्य ने गीता में कहा है-

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं वाह्यमाभ्यंतरं तथा।[229]
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाहयं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।।

शौच दो प्रकार का कहा गया है - बाह्य और आभ्यान्तर। मिट्टी और जल से बाहय शुद्धि होती है, तथा विचारों की शुद्धि आभ्यान्तर शुद्धि कहलाती है।

सन्तोष :- विद्वन्मनोरञ्जनी में कहा गया है - ''संतोषो यदृच्छालाभसन्तुष्टिरलाभे चाविषादः'' अर्थात् प्रारब्ध से जो भी वस्तु अपने आप मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहना और न मिलने पर किसी प्रकार का विषादन होना सन्तोष कहलाता है।'' इसी प्रकार योग भाष्य में कहा गया है - ''सन्नितहिसाधनादधिकस्यानुपादित्सा''[230] अर्थात् जीवन यात्रा के लिये जो साधन प्रारंब्धवश प्राप्त हुये हैं, उनसे अधिक जुटाने की इच्छा न होना सन्तोष है।

तप :- योगभाष्य में तप का लक्षण बताते हुये कहा गया है - अशनामा-पिपासा, शीत-उष्ण, स्थान आसन, काष्ठ मौनआकारमौन आदि द्वन्दों से उत्पन्न होने वाले कष्टों को सहन करना ''तप'' कहा गया है। तथा कृच्छचान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रतों का अनुष्ठान भी तय बताया गया हैं।

स्वाध्याय :- योग भाष्य के अनुसार - ''प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षास्त्राध्ययनं वा''[231] अर्थात् प्रणव (ओंकार) आदि पवित्र मंत्रे का जप तथा मोक्ष शास्त्र का अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं - ''सुवाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः''[232] अर्थात् नित्य नियमित रूप से जप करने वाले साधक को अभीष्ट देवता, ऋषि और सिद्ध दर्शन देते है।

ईश्वर प्रणिधान :- इसका लक्षण बताते हुये योग भाष्य में कहा गया है - ''ईश्वर प्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरार्पणं तत्फलसन्यासो वा'' इसका तात्पर्य इस प्रकार है :-

1 अन्तर्यामी की प्रेरणा से जो भी शुभ या अशुभ, लौकिकया अलौकिक कर्म, अपने द्वारा बन पड़े, उन सभी कर्मों को परमगुरू परमेश्वर को समर्पित कर देना ''ईश्वर प्रणिधान'' है। अथवा

2 कर्मफल का परमेशवर के लिये सन्यास (त्याग) कर देना ''ईश्वर प्रणिधान'' है। राम तीर्थ का कथन है - ''ईश्वर प्रणिधानं'' तस्य मानसैरूपचारैरभ्यर्चनम्'' अर्थात् मानसिक उपचारों से परमेश्वर की पूजा करना'' ईश्वर प्रणिधान'' है।

आसान :- हाथ, पैर आदि अंगों को किसी विशिष्ट स्थिति में स्थिरतापूर्वक रखना आसान कहलाता है। परन्तु राजयोग में पतञ्जलि ने कहा है- ''स्थिरसुखमासनम्''[233] अर्थात् शरीर की जो स्थिति स्थिर रह सके तथा सुखकर हों वही आसन है। शंकाराचार्य भी इसका समर्थन करते हुये कहते हैं-

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्त्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।[234]
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ।।

अर्थात् "जिस स्थिति में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मचिन्तन होता रहे, उसे ही असान समझना चाहिये। सुख को नष्ट करने वाला आसन नहीं है। सुरेश्वराचार्य ने कुछ आसनों का परिगणन किया है :- स्वास्तिकं गोमुखं पद्मा हंसाख्यं ब्रह्मनामकम्। नृसिंहं गुरूडं कूर्म्मनागाख्यंवैद्युतासनम्।[236] वीरं मयूरवज्राख्यं रौद्रमासनम्। विदुःशाक्त पूर्वपश्चिमतान कम्। निरालम्बनयोगस्य निरालम्बनमासने।। इन आसनों में जिससे स्थिरता और सुख की प्राप्ति हो साधक को वही आसन स्वीकार करना चाहिये। पतञ्जलि कहते हैं - "प्रयत्नशौपिल्यानन्तसमापतिताभ्याम्[237] अर्थात् प्रयत्न की शिथिलता से अथवा अनन्त में चित्त को समापन्न कर देने से आसन सि; होता है। आसन के सि; हो जाने पर साधक शीतोष्ण आदि द्वन्दों से अभिभूत नहीं होता है।

प्राणायाम :- प्राणायाम में रेचक, कुम्भक और पूरक तीन क्रियायें करनी होती हैं। प्राणवायु को धीरे-धीरे नासिका को बाये या दाहिने छेद से बाहर निकालना "रेचक" कहलाता है, जिस छिद्र से रेचक किया गया है, उसी से प्राण वायु को धीरे-धीरे भीतर भरना "पूरक" कहा जाता है, और पूरक के द्वारा भीतर भरी गयी वायु को भी तर ही रोकना "कुम्भक" है। पातञ्जल योगसूत्र के अनुसार - "तस्मिनूसति श्वासप्रश्नवासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः"[237] अर्थात् आसन् के सिद्ध हो जाने पर, बाह्य वायु रूप जो स्वास है, और कोण्ठगत वायु का विरेचन रूप जो प्रवास है, इन दोनों की स्वाभाविक गति का विच्छेद प्राणायाम कहलाता है। यह प्राणायाम का सामान्य लक्षण है। आगे की भूमिका में प्राणायाम को चार प्रकार का बताया गया है-

1 केवल रेचक :- प्राण वायु को बाहर निकाल कर, जितनी देर सुखपूर्वक रोक सके, बाहर ही रोके रहना प्रथम प्रकार का प्राणायाम है।

2 केवल पूरक :- प्राण वायु को भीतर खीचंकर, जितनी देर सुखपूर्वक रोक सके, भीतर ही रोके द्वितीय प्रकार का प्राणायाम है।

3 केवल कुम्भक :- प्राण वायु को बाहर या भीतर न ले जाकर, वह जहां पर हो, वहीं पर उसकी गति को स्तम्भित कर देना तृतीय प्रकार का प्राणायाम है।

ये तीनों प्राणायाम देश काल और संख्या से परिदृष्ट होते है, अर्थात् प्राणवायु की गति को निरूद्ध कर यह देखना होता है कि प्राणवायु किस देश में ठहरी है, कितने काल तक ठहरी है, और उतने काल में प्राण की स्वाभाविक गति की कितनी संख्या होती है। इस प्रकार के अभ्यास से प्राणायाम दीर्घकाल तक ठहरने लगता है और स्वास की गति भी सूक्ष्म हो जाती है।

4 प्राणायाम की पूर्ण परिपक्वावस्था ही उसका चौथा प्रकार है। यह भी ''स्तम्भवृत्ति'' ही है, परन्तु तृतीय के समान यह सकृत प्रयत्न साध्य नही हैं। बल्कि बहुत प्रयत्न करने से सि; होता है।

शंकराचार्य ने अपरोक्षानुभूति में प्राणायाम के पूर्वोक्त पारम्परिक स्वरूप की अवहेलना कर, उसका अद्वैत सम्मत स्वरूप इस प्रकार प्रकाशित किया है - चित्त आदि समस्त जागतिक पदार्थों में ब्रह्मरूपता की भावना करते रहने से जो वृत्ति है वह ''पूरक'' प्राणायाम कहा गया है, उसके अनन्तर अखण्डाकाराकारित चित्रवृत्ति की निश्चलता ही ''कुम्भक'' प्राणायाम है। मोहनिद्रा से जगे हुये पुरूषों के लिये प्राणायाम का यही स्वरूप हैं।''[238]

प्रत्याहार :- योगसूत्र में पतज्जलि ने कहा है - ''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः''[239] अर्थात् अपने-अपने विषयों से संबंध होने पर इन्द्रियों का मानों चित्त के स्वरूप का अनुकरण कर लेना प्रत्याहार है। उस समय समस्त इन्द्रियों की वृत्तियां बाहय विषयों को ग्रहण न कर सकने के कारण चित्त में ऐसी विलीन हो जाती है, मानों इन्द्रियों ने चित्त स्वरूप का अनुकरण कर लिया हो। चित्त से पृथक इन्द्रियों की कोई वृत्ति नहीं रह जाती है। इसी को ''प्रत्याहार'' कहा जाता है। शंकराचार्य ने प्रत्याहार का स्वरूप योग के प्रत्याहार से विलक्षण बतलाया है -

विषयेष्वात्मतादृष्ट्वा मनसरिचितिमज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयों मुमुक्षुभिः।।[240]

अर्थात् समस्त जागतिक विषयों में आत्म भाव का दर्शन करके मन को चिदूधन में डुबा देने को ही प्रत्याहार समझना चाहिये। मोक्ष कामियों को इसका अभ्यास करना चाहिये। ''प्रत्याहार सिद्ध होने से योगी की इन्द्रियाँ सर्वथा उसके वश में हो जाती हैं।

धारणा:- पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार ''देशबन्धश्चित्तस्य धारणा''[241] अर्थात् चित्त को हृदयपुण्डरीक आदि आध्यात्मिक देश में अथवा देवमूर्ति आदि बाहय देश में वृत्ति के द्वारा बांध देना धारणा है। वेदान्त को भी धारणा का यह स्वरूप स्वीकार्य है, परन्तु यहां ध्येय एकमात्र ब्रह्म को ही माना जाता है। शंकराचार्य कहते हैं - यत्र यत्र मनोयाति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् मनसो धारणं चैव धारणा सा परामता''[242]

अर्थात् मन जहां-जहां जाता है, वहां पर ब्रह्म का ही दर्शन करना और उस ब्रह्म में ही मन को स्थिर कर देना सर्वोत्तम धारणा मानी गयी है।

ध्यानः- ध्यान में चित्रवृत्ति रूक-रूक कर ध्येय ब्रह्म में प्रवाहित होती है, उसका प्रवाह तैलधारावत् एकरस नहीं होता है, प्रत्युत जल धारा के समान बीच-बीच में टूट जाता है। योगदर्शन में ध्यान का लक्षण बताते हुये कहा गया है- ''तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्'' अर्थात् चित्रवृत्ति के तैलधारवत् एकरस अविच्छिन्न प्रवाह को ही ध्यान कहागया है। ऐसा लगता है कि जिसे योगसूत्र में ध्यान कहा गया है, उसे ही वेदान्त में सविकल्प समाधि बताया गया है। वस्तुतः ध्यान की परिपक्वावस्था ही सविकल्पक समाधि है। वेदान्तसार में ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था का स्वरूप बताया गया है, जबकि योगसूत्र में उसकी परिपक्वावस्था का लक्षण दिया गया है। शंकराचार्य कहते है- ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्वतयास्थितिः। ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी।। अर्थात् ''मैं ब्रह्म की हूँ'' इस प्रकार सद्ब्रह्म विषयक चित्रवृत्ति से जो परमानन्ददायिनी निरालम्ब स्थिति होती है, वही ध्यान शब्द से विख्यात है।

समाधिः- निर्विकल्पक समाधि के आठ अंगो में अन्तिक अंग के रूप में जो समाधि बताई गयी है, वह पूर्वोक्त सविकल्पक समाधि ही है, जिसका निरूपण इसके पहले किया जा चुका है। अष्टांग समाधि का अभ्यास करते समय दो प्रकार की विध्नों की सम्भावना होती है- बाहय और आभ्यन्तर। बाहयविध्न हैं - अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, युद्ध आदि। इन विध्नों का उपद्रव होने पर लोकदृष्ट उपायों का सहारा लेकर इनको दूर करना चाहिये। परन्तु जब अपने मन में ही विध्नों का प्रादुर्भाव हो, तो उनके निवारण का उपाय बताने की इच्छा से उनका स्वरूप प्रदर्शित करते हैं। इस निर्विकल्प समाधि में लय, विक्षेप, कशाय और रसास्वाद ये चार विध्न सम्भव होते हैं। अखण्डवस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्रवृत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना ''विक्षेप'' है। लय और विक्षेप का अभाव होने पर भी रागादिवासनाओं के कारण चित्रवृत्ति के जड़ हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना ''कशाय'' है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने पर भी चित्रवृत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना ''रसास्वाद'' है। इन चार प्रकार के विध्नों से रहित हुआ चित जब वायु रहित स्थान में रखे हुये दीपक के समान निश्चल होता हुआ अखण्ड चैतन्य मात्र के रूप में स्थित होता है, तो उस समय निर्विकल्पक समाधि कही जाती है।

माण्डूक्यकारिका में इसका स्वरूप बताया गया है, जो इस प्रकार है - ''लय पर चित्त को जगाना चाहिये, विक्षिप्त चित को शान्त करना चाहिये, कशाय से युक्त चित को विशेष रूप से समझना चाहिए और सम प्राप्त हो जाने पर उसे चलायमान नहीं करना चाहिये। उस समय रस का आस्वादन नहीं करना चाहिये, बल्कि विवेक

बुद्धि के द्वारा उसकी ओर से अनासक्त हो जाना चाहिये।"[243] नृसिंह सरस्वती का कहना है कि सविकल्पक आनन्द से तात्पर्य उस आनन्द से है, जो अद्वितीय ब्रह्म के साक्षात्कार से नहीं, बल्कि बाहृय शब्दादि विषय रूप प्रपञ्जभार का परित्याग कर देने मात्र से उत्पन्न होता है। सविकल्पक समाधि में साधक अद्वितीय वस्तु को न ग्रहण कर सकने के कारण नित्य आसन्दरस का आस्वादन न करने पर भी ब्रह्म प्रपञ्च रूप अनिष्ट की निवृत्ति मात्र से उत्पन्न होने वाले सविकल्पक आनन्द का ब्रह्मानन्द के भ्रम से आस्वादन करने लगता है, इसी को "रसास्वाद" कहते हैं।[244]

रसास्वाद का जो दूसरा लक्षण दिया गया है उसका तात्पर्य इस प्रकार है कि जब साधक निरन्तर अभ्यास करता हुआ साधना की अन्तिम भूमि निर्विकल्प समाधि में प्रवेश करता है, उस समय द्वैत से अद्वैत में जाना होता है। अभी तक उसने द्वेतगत त्रिपुटीसंवलित आनन्द का ही आस्वादन किया है, उसे अभी अद्वैतानन्द का अनुभव नहीं है, अतः सविकल्पक आनन्द को छोड़ने की उसकी इच्छा नही होती। तथा उसे धबड़ाहट भी होती है कि वह स्थिति कैसी होगी जिसमें न तो कोई दूसरा रहेगा और न मेरा मेरापन रहेगा। इसलिये जिस साधक में थोड़ी भी अविवेक की मात्रा रह जाती है, वह निर्विकल्पक समाधि के आरम्भ काल में भी सविकल्पक आनन्द को छोड़ना नहीं चाहता है, और उसी का आस्वादन करता रहता है। इसीलिये इसे अद्वैतानन्द की प्राप्ति में बाधक होने के कारण विध्न कहा गया है।

इस सविकल्पक समाधि में साधक को जो आनन्द मिलता है, उसका आस्वादन नहीं करना चाहिये बल्कि अपनी विवेकिनी प्रज्ञा के द्वारा विचार करना चाहिये कि जो सुख मिल रहा है, वह अविद्या परिकल्पित होने के कारण मिथ्या है। ऐसा विचार कर उस सुख की ओर से सर्वथा अनासक्त हो जाना चाहिये। इस प्रकार विध्नचतुष्टय की निवृत्ति हो जाने पर उस सुख की ओर से सर्वथा अनासक्त हो जाना चाहिये। इस प्रकार विध्नचतुष्टय की निवृत्ति हो जाने पर योगी का चित्र निर्वात दीपक के समान निश्चल और सुस्थिर हो जाता है। गौनपाद कहते हैं :-

यदा न लीयते चित्र न च विक्षिप्यते पुनः।[245]
अनिङगनमनाभसं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा।।

अर्थात् चित जिस समय न तो लय को प्राप्त होता है और न विक्षेप को तथा निर्वातदीप के समान निश्चल होकर अपना अवभाष भी खो देता है, उस समय वह ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इसी को अपनी भाव कहा गया है, जिसका लक्षण प्रस्तुत करते हुये कहते हैं :-

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किं-चित् सचराचरम् ।[246]
मनसो हि अमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।

अर्थात् यह सम्पूर्ण रूप द्वेत मनोदृश्य है, अर्थात् मन की कल्पना मात्र है। समाधि के द्वारा मन का निरोध हो जाने पर द्वैत की अपलब्धि नहीं होती है। इस प्रकार समाधि पर्यन्त साधनों का अनुष्ठान जब परिपक्व हो जाता है, तो पूर्वोक्त प्रकार से आत्म साक्षात्कार हो जाने पर अविद्या और उसका कार्यभूत समस्त संसार निवृत्त हो जाता है। यदि उसी समय प्रारब्ध कर्मों के क्षय हो जाने से शरीरपात हो जाये तो वह तत्काल विद्रेहमुक्त हो जाता है। परन्तु यदि ज्ञानोत्पत्ति के समय उसका प्रारब्ध क्षीण नहीं हुआ है, तो उसके क्षयपर्यन्त शरीर के विद्यमान रहने से ब्रह्मवेत्ता जीवित रहते हुये भी संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है। जिसे जीवन्मुक्त कहते हैं।

यह जीवन्मुक्त केवल शरीर मात्र के प्रयोजन से इच्छा, अनिच्छा और परेच्दा से प्राप्त कराये गये सुख-दुःख रूप प्रारब्ध फलों का अनुभव करता हुआ तथा अन्तः करणादि की विषयाकार वृत्तियों को प्रकाशित करता हुआ, उसका क्षय होने पर प्रत्यगानन्दरूप परब्रह्म में प्राण के लीन हो जाने पर, अज्ञान और उसके कार्यो तथा संस्कारों का भी विनाश हो जाने से, समस्त भेद प्रतीतियों से रहित, परम कैवल्य रूप, आनन्दैक रस, अखण्ड ब्रह्म के रूप में स्थित होता है। वृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि ''ब्रह्मवेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते हैं'' ''वे यहीं लीन हो जाते है'' ओर कठोपनिषद् में कहा गया है, ''अविद्याकृत कामकर्मादि के बन्धनों से विमुक्त हुआ यह जीवन्मुक्त विमुक्त (विदेहमुक्त) हो जाता है, अर्थात पुनः शरीर नहीं धारण करता है।'' आदि श्रुतियों से उपर्युक्त कथन प्रमाणित होता है।

सन्दर्भ

1. तैतिरीय उपनिषद् 3/1
2. द्रान्दोग्य उपनिषद् 2/4/5
3. द्रान्दोग्य उपनिषद् 6/14/2
4. कठोपनिषद् 1/3/12
5. वही 1/7
6. प्रश्नोपनिषद् 1/3
7. केनोपिषइद् 1/1
8. वही 1/2
9. मुण्डकोपनिषद् 1/2/3
10. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/16

11. मुण्डकोपनिषद् 2/1/4
12. ब्रह्मसूत्र 3/2/11
13. माण्डूक्योपनिषद् 7 (मंत्र)
14. कठोपनिषद् 3/15
15. केनोपनिषद् 1/5
16. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/4/1
17. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/5
18. कठोपनिषद् 2/2/15
19. श्वेताश्वतरोपनिषद् 3/20
20. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/5
21. वहीं 1/12
22. छन्दोग्य उपनिषद् 9/3/41
23. वृहदारण्यक उपनिषद् 2/1/20
24. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/1
25. वहीं 2/5
26. वृहदारंण्यकोपनिषद् 3/9/28
27. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/10
28. ब्रह्मसूत्र 1/1/2
29. तैत्तिरीयोपनिषद् 2/11
30. वृहदारण्यकोपनिषद् 4/4/22
31. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/9
32. छान्दोग्य उपनिषद् 7/25/2
33. इशोपनिषद् 1
34. वहीं 4
35. इशावास्योपनिषद् 7
36. छान्दोग्य उपनिषद् 6/2/1
37. गीता शांकर भाष्य 3/15
38. वहीं 4/24
39. गीता भाष्य 4/31
40. वहीं 5/6
41. गीता शांकर भाष्य 5/19
42. वहीं 7/29
43. गीता शांकर भाष्य 7/29
44. वहीं 8/3
45. गीता शंकर भाष्य 8/13
46. वहीं 8/24
47. वहीं 10/12
48. गीता शांकर भाष्य 13/12
49. वहीं 13/30
50. वहीं 14/4
51. गीता शंकर भाष्य 18/50
52. ब्रह्मसूत्र 1/2/12
53. ब्रह्मसूत्र 1/1/13
54. वहीं 1/1/14
55. वहीं 1/1/15
56. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 1/1/6
57. वहीं 1/1/17
58. वहीं 1/1/18
59. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 1/1/9
60. वहीं 1/2/11
61. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 1/2/12
62. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 3/2/11
63. वहीं 3/2/12
64. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 3/2/13
65. वहीं 3/2/14
66. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 3/2/15
67. वहीं 3/2/16
68. वहीं 3/2/17
69. ब्रह्मसूत्र 3/2/18
70. वहीं 3/2/19
71. वहीं 3/2/20
72. ब्रह्मसूत्र 3/2/21
73. वहीं 3/2/22
74. ब्रह्मसूत्र 3/2/23
75. वहीं 3/2/24
76. ब्रह्मसूत्र 3/2/25
77. वहीं 3/2/26
78. वहीं 3/3/11
79. वहीं 3/3/12
80. ब्रह्मसूत्र 3/3/13
81. वहीं 3/3/14
82. ब्रह्मसूत्र 3/3/15
83. वहीं 3/3/16
84. वहीं 3/3/17

85. ब्रह्मसूत्र 3/3/18
86. पच्चदशी-पीताम्बरी व्याख्या-चित्रदीप प्रकरण - 6 - 23
87. पच्चदशी-पतताम्बरी व्याख्या-चित्रदीप प्रकरण 6-24
88. भारतीय दर्शन सम्प्रदाय एवं समस्याये - डा0 सुरेन्द्र वर्मा
89. भारतीय दर्शनः सम्प्रदाय और समस्याये - डा0 सुरेन्द्र वर्मा
90. ब्रह्मसूत्र 2/3/17
91. छान्दोग्पिनिषद् 6/11/3
92. ब्रह्मसूत्र 2/3/23
93. प्रश्नोपनिषद् 3/6
94. ब्रह्मसूत्र
95. गीता भाष्य 14/16
96. ब्रह्मसूत्र 2/1/35
97. गीता भाष्य 13/19
98. ब्रह्मसूत्र 3/2/34
99. वहीं 3/2/35
100. ब्रह्मसूत्र 3/2/36
101. वहीं 3/3/34
102. ब्रह्मसूत्र 4/4/2
103. वही 4/4/3
104. वहीं 4/4/3
105. कठोपनिषद् 2/1/15
106. मुण्डकोपनिषद् 3/2/8
107. मुण्डकोपनिषद् 3/2/9
108. ब्रह्मसूत्र 424/5
109. मुण्डकोपनिषद् 3/1/3
110. ब्रहदारण्यकोपनिषद् 4/5/13
111. वृहदारण्यकोपनिषद् 4/5/13
112. ब्रह्मसूत्र 4/4/7
113. पंचदशी-पीताम्बरी व्याख्या, पत्यक्रत्त्व विवेक प्रकरण 1/3
114. पंचदशी-पीताम्बरी व्याख्या, प्रत्यकतत्व विवेक प्रकरण 1/4
115. पंचदशी-तीताम्बरी व्याख्या - प्रत्यक् तत्व विवेक 1/5
116. वहीं 1/6/7,
117. पंचदशी-पीताम्बरी व्याख्या प्रत्यकतत्व विवेक प्रकरण 1/8
118. पंचदशी-पीताम्बरी व्याख्या प्रत्यकतत्वविवेक प्रकरण 1/10
119. भारतीय दर्शन - सम्प्रदाय एवं समस्र्र्यायं - डा0 सुरेन्द्र वर्मा
120. भारतीय दर्शन सम्प्रदाय और समस्याये - डा0 सुरेन्द्र वर्मा
121. भारतीय दर्शन - सम्प्रदाय और समस्याये - डा0 सुरेन्द्र वर्मा
122. विवेकचूड़ामणि - 111 - श्री मच्छंकराचार्य
123. छान्दोग्योपनिषद् - 6/4/1
124. श्वैताश्वतरोपनिषद् 6/4/1
125. वहीं 1/3
126. द्रष्टव्य : वेदान्तसार - 11/4 (सं0 डा0 सन्त नारायण लाल श्रीवास्तव)
127. पच्चदशी - 11/41
128. वृहदारण्यकोपनिषद् वार्त्तिक श्लोक सं0 181
129. वेदान्त विद्धान्त मुक्तावली
130. इष्टसिद्धि - 1/140
131. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1/3
132. गीता - 5/15
133. वहीं 7/25
134. मुण्डकोपनिपद् 1/1/9
135. पच्चदशी 1/16
136. श्वेताश्वतरोपनिषद् 4/5
137. तर्कभाषा - केशव मिश्र
138. मुण्डोपनिपद् 1/1/9
139. वृहादारण्यकोपनिषद् 4/4/22
140. वहीं 3/7/3

141. तैत्तिरीयोपनिषद् 3/1
142. माण्डूक्य कारिका 3/27
143. शारीरक भाष्य 2/2/17
144. वेदान्तसार 47
145. संक्षेप शारीरक 2/61
146. विवरण पृ0 32
147. पंचदशी 1/16
148. सिद्धान्तलेश संग्रह (अच्युत ग्रन्थमाला) पृ0 84
149. ब्रह्मसूत्र 2/1/13
150. वहीं 2/1/14
151. छान्दोग्योपनिषद् 6/1/4
152. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
153. गीता भाष्य 7/5
154. वहीं 7/6
155. ब्रह्मसूत्र 2/1/15
156. ब्रह्मसूत्र 2/1/16
157. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
158. वृहदारण्यकोपनिषद् 1/4/7
159. ब्रह्मसूत्र 2/1/17
160. छान्दोग्योपनिषद् 6/2/1
161. वहीं 6/2/2
162. ब्रह्मसूत्र 2/1/18
163. वहीं 2/1/19
164. वहीं 2/1/20
165. ब्रह्मसूत्र 2/1/80
166. श्वेताश्तरोपनिषद् 4/4
167. ब्रह्मसूत्र 2/1/22
168. ब्रह्मसूत्र 2/1/23
169. वहीं 2/1/24
170. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8
171. ब्रह्मसूत्र 2/1/25
172. वहीं 2/1/26
173. वहीं 2/1/27
174. ब्रहमसूत्र 2/1/28
175. वहीं 2/1/29
176. वहीं 221/30
177. ब्रह्मसूत्र 2/1/3
178. वहीं 2/1/33
179. ब्रह्मसूत्र 2/1/34
180. वृहदारण्यकोपनिषद् 3/2/13
181. वहीं 4/4/5
182. ब्रह्मसूत्र 2/1/35
183. ब्रह्मसूत्र 2/1/36
184. गीताभाष्य 13/19
185. ब्रह्मसूत्र 2/1/37
186. पच्चदशी 10/4
187. वहीं 6/210
188. प्रश्नोपनिषद् 618
189. छान्दोग्योपनिषद् 7/1/3
190. वहीं 7/26/2
191. वृहदारण्यक उपनिषद शांकर भाष्य : 2.4.13
192. केनोपनिषद् 2/3
193. वृहदारण्यकोपनिषद् 3/4/2
194. वृहदारण्यक उपनिषद शांकर भाष्य 4/5/15
195. वहीं 2/4/16
196. वहीं 2/5/19
197. वृहदारण्यकोपनिषद् 2/5/19
198. न सन्ना सन्न सद्सन्ना निर्वाच्योऽपि तत्त्यज यक्षानुरूपो ही बलिरित्याचार्या व्यचीचरन्।। न्यायमकरन्द (चौखम्भा) पृ0 355

199.(क) निश्चलदास - वृत्तिप्रभाकर - पृ0 441
(ख) इस विवाद के लिये द्रटव्यः पाण्डेय, संममलालः भारतीय दर्शन का सवेक्षण, इलाहाबाद, 1976, पृ0 373-374
200. चित्सुखी नयन प्रसादिनी टीका, पृष्ठ 604
201. शारीरिक भाष्य 1/1/4
202. वहीं 1/1/4
203. संक्षेप शारीरक - 4/38
204. छान्दोग्योपनिषद् शांकर भाष्य 6/2/1
205. वहीं 6/8/7
206. वहीं 6/14/2
207. छान्दोग्योपनिषद् शंकर भाष्य 6/14/2
208. वहीं 6/1/4
209. वृहदारण्यकोपनिषद् शंकर भाष्य 3/5/1
210. श्वेताश्वतरोपनिषद् शंकर भाष्य 1/10
211. सर्वदर्शन संग्रह - वृहत्संहिता - सदानन्द
212. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 2/1/6
213. मुण्डक 3/2/9
214. छान्दोग्य 7/5/3
215. उपदेश सहसी - 10/1
216. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 2/1/6
217. पच्चदशी 1-3
218. मनुस्मृति 12/106
219. पच्चदशी 1/54
220. पच्चदशी 1/551
221. पच्चदशी 1/59/60
222. योगसूत्र 2/29
223. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य 2/2/3
224. अपरोज्ञानुभाति 104
225. व्यासभाष्य 2/30
226. वहीं 2/30
227. विद्वत्मंचोरज्जनी
228. याज्ञवल्क्य गीता 1/69
229. योग भाष्य 2/32
230. योग भाष्य 2/1
231. योगसूत्र 2/44
232. योगसूत्र 2/46
233. अपरोक्षानुभूति 112
234. मानसोल्लास 9/24/26
235. योगसूत्र 2/49
236. वहीं 2/49
237. अपरोक्षानुभूति 1/8/20
238. योगसूत्र 2/54
239. अपरोक्षानुभूति 121
240. योगसूत्र 3/1
241. अपरोक्षानुभूति 122
242. माण्डूक्यकाटिका 3/44-45
243. वहीं 3/46
244. माण्डूक्यकाटिका 3/46
245. वहीं 3/31

तृतीय अध्याय

कश्मीर शैव दर्शन की तत्वमीमांसा का संक्षिप्त विवेचन

तत्वमीमांसा :- जिस प्रकार भारतीय दर्शन में सर्वोच्च स्थान अद्वैत वेदान्त को प्राप्त है, उसी प्रकार शैव परम्परा में अद्वैतवादी दर्शन के रूप में काश्मीर शैव दर्शन को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। काश्मीर शैव दर्शन को त्रिकदर्शन भी कहते हैं, इसमें पति, पशु और पाश इन तीन तत्वों को स्वीकार किया गया है। इसे स्पन्द दर्शन भी कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी इसी का नाम है। प्रात्सभिज्ञा का अर्थ है "पहचान"। जीव वस्तुतः शिव है, किन्तु वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल गया है और अपने देह और मन से अपना तादात्म्य माने बैठा है। "प्रतयभिज्ञा" का उपदेश उसको अपने वास्तविक स्वरूप को समझने में सक्षम बनाने के लिये अथवा उसका यह सत्य हृदयंगम कराने के लिये है कि उसका वास्तविक स्वरूप शिव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसको वह साधना का मार्ग दिखाने के लिये है जिससे उसको शिव में समावेश की प्राप्ति हो जाय। कश्मीर शैव मत में 36 तत्वों को स्वीकार किया गया है। तन्त्रालोक में तत्व की परिभाषा निम्नलिखित प्रकार से की गयी है -

स्वास्मिन् कार्येऽथ धर्मोघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे।
तत् तत्वं क्रमशः पृथिवीशुज्ञानं पुंशिवादयः।।

अर्थात् "अपने कार्य और गुणों के समूह में जो अपने समान गुण वाली वस्तु में समान्य रूप से व्यापक है। वह तत्व है। "इनके तीन प्रकार हैं - शिवतत्व, विद्यात्व और आत्मतत्व। शिवतत्व दो है - शिव और शक्ति। विद्यातत्व तीन है - सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या। आत्मतत्व 31 है- माया, कला, विद्या, राग, काल,

नियति, पुरूष, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, मन और पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कमेन्द्रिय, पांच तन्मात्रायें तथा पांच महाभूत। पुरूष से लेकर पंचमहाभूत तक वे ही पच्चीस तत्व हैं जिन्हें सांख्य दर्शन में माना जाता है। शेष ग्यारह तत्व शैवमत के अपने हैं। इन ग्यारह तत्वों में माया शैव सिद्धान्त की अशुद्ध माया है और कला, विद्या, राग, तथा नियति वे ही हैं जो शैव सि;ान्त में माने जाते हैं, शेष पांच तत्व शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या कश्मीर शैवमत के अपने हैं। शिव और शक्ति एक-दूसरे से अभिन्न हैं, दोनों को एक-दूसरे से अलग करके नहीं जाना जा सकता, क्योंकि दोनों ही एक ही परमेश्वर के दो रूप हैं। शिवतत्व प्रकाश रूप हैं और शक्तित्व विमर्शरूप है। शिव अचेतन है, उसमें चेतनता शक्ति के कारण आती है। शिव की यह चेतनता या आत्मज्ञान ही विमर्श है। शिवतत्व के विमर्श का रूप है- "अहमस्मि" (मै हूँ)। वह तत्व जब विमर्श करा है कि इदम् अस्ति, तो वह ईश्वर हो जाता है। अन्त में वही तत्व जब यह विमर्श करता है। कि यादृश्यम् अहम् तादृश्यम् इदम् या यादृश्यम् इदम् तादृश्यम् अहम् अर्थात् जैसा यह है वैसा में हूं या जैसा मैं हूँ वैसा यह है तब उस तत्व को शुद्ध विद्या कहते हैं। शिव से लेकर ईश्वर तक के तत्वों में इदमंश और परस्पर मिले रहते हैं। जब इदमंश अहमंश से अलग हो जात है, तो अहमंश पुरूष और इदमंश प्रकृति हो जाती है।

"कश्मीर शैव मत में यद्यपि 36 तत्व स्वीकार किये गये हैं, तथापि वह अद्वैतवादी दर्शन है। उसमें एक अद्वितीय तत्व शिव-शक्ति या परमेश्वर या परमाशिव है। अन्य सभी तत्व उसके विमर्श व्यापार से प्रकट होते हैं। यह विमर्श व्यापार वैसे ही है जैसे हेगल के निरपेक्ष सत् से समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह बिल्कुल हेगलवाद तो नहीं हैं क्योंकि हेगल निरपेक्ष सत् से समाप्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यह बिल्कुल हेगलवाद तो नहीं हैं क्योकि हेगल निरपेक्ष सत! को ज्ञान प्रधान मानता हैं, जबकि कश्मीर शैवमत में निरपेक्ष सत् को ज्ञान और इच्छा दोनों से विशिष्ट माना गया है।[2]" परमेश्वर की पांच शक्तियां चित्त, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया हैं। चित्रशक्ति प्रकाशरूप है, जिससे परमशिव प्रकाश्यवस्तु के अभाव में भी प्रकाशित होते रहते हैं, आनन्दशक्ति स्वातंत्र्य रूप है, ज्ञान आमर्श रूप हैं, क्रिया शक्ति सभी आकार को धारण करने की योग्यता है। इन पांच शक्तियों के द्वारा परमेश्वर अपने को अपने ही उपर जगत् के रूप में व्यक्त करते है। कश्मीर शैवमत का ईश्वराद्वयवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है क्योंकि शंकराचार्य ब्रह्म को चिन्मात्र मानते है, जबकि कश्मीर शैवमत परमशिव को स्वतंत्र तथा कर्ता मानता है। यह विवर्तवाद को न मानकर स्वातंत्रवाद को मानता है। परमशिव का स्वप्रकाश न तो वितर्त है और न तो परिणाम, बल्कि यह आभास है जिसे पारिभाषिक

रूप में स्वातंत्रवाद कहा जाता है। यही कारण है कि कश्मीर शैवमत जगत को मिथ्या या अनिर्वचनीय न मानकर सत् मानता है। जो परमशिव की स्वतंत्र्य शक्ति का विजृंमण है। कश्मीर शैव की तत्वमीमांसा के अन्तर्गत मुख्यतः शिव एवं शक्ति तत्व का विवेचन तथा अद्वैतवाद का अर्थ स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

शिवतत्व :- कश्मीर शैवमत शिवतत्व को चित्रूप को स्वतंत्र तथा कर्ता मानता है। शिवतत्व ही समस्त ब्रह्माण्ड में सभी अवस्थाओं में स्फुटित होता है और इन सबसे परे भी है। परमशिव अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से ही अपने को प्रकाशित करता है। उसका यह स्वप्रकाश स्वातन्त्र्यवाद है। इस स्वातन्त्र्यवाद को मानने के कारण ही कश्मीर शैवमत जगत को मिथ्या नहीं मानता बल्कि जगत को सत् रूप में स्वीकार करता है। महेश्वर ही सभी कुछ को आभासित करता है। यह आभासमान चराचर उसी में रहता है और अन्त में उसी में लीन हो जाता है। तंत्रालोक में इसका वर्णन करते हुये कहा गया है :-

यस्मिन् सर्वम् यतः सर्वम् यत् सर्वम् सर्वतश्चयः।[3]
यश्च सर्वमयोनित्यम् तस्मै सर्वामने नमः।।

उक्त च कामिके देव सर्वाकृतिनिराकृतिः।
जलदर्पणवत् तेन सर्वव्याप्तं चराचरम्।।

अर्थात् वह स्वतंत्र है। स्वतंत्र होने के कारण ही सभी निरूपादान को अभिन्न और भिन्न भेद से योगी की भांति अर्थ मात्र को अर्थात पदार्थ मात्र को स्वेच्छा से भासित करता है। इस प्रत्यभिज्ञा दर्शन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह न तो शब्दंज्ञानमार्ग है, ननीरस अद्वैतवाद और न ज्ञान विहीन भक्ति मार्ग ही । इसमें ज्ञान एवं भक्ति का सुन्दर सामज्जस्य मिलता है। पर सर्वोपरि सैद्धान्तिक स्थिति यह है कि एक परमेश्वर ही केवल मात्र तत्व है। परमेश्वर सृष्टि संहार, अनुग्रह और निग्रह (विलय) इन पंचकृत्यों का सम्पादक है। वह भी जगत् के अन्तर्गत है। परमेश्वर का जगत् के साथ सम्बन्ध दर्पणाविम्बवत् है। जिस प्रकार दर्पण में पड़ने वाले पदार्थें या वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दर्पण से भिन्न भी रहता है और सम्बद्ध भी ठीक इसी प्रकार जगत् ईश्वर से भिन्न होने पर भी अभिन्न है। भिन्न भिन्नस्वरूप में उसी में सब कुछ निहित हैं।

प्रत्यभिज्ञा परम्परा का महत्वपूर्ण ग्रन्थ शिव शूल विमर्शिणी आचार्य वसुगुप्त को उपलब्ध हुई थी। श्री वसु गुप्ताचार्य को परम कारूणिक शिव ने स्वप्न में शक्तिपात करके उनकी प्रतिभा का उन्मेष किया और वसुगुप्त को आदेश दिया कि, कश्मीर में वृहत्पर्वत पर एक शिला है, उस पर कुछ रहस्य लिखा हुआ है, उसको

प्राप्त करके जो अनुग्रह करने के योग्य है, उनको बताओ।" वसुगुप्त प्रबु; होकर शिलान्वेषण के लिए चले। सुनिश्चित स्थान पर वह शिला मिली, उसमें शिव सूत्रों को देखा। स्वप्न की बात को प्रत्यक्ष करके अपने शिष्य श्री भट्टकल्लदादि को बताया तथा स्पन्दकारिका के नाम से सूत्र संग्रह किया। उस पर श्री क्षेमराज ने टीका की और वसुगुप्ताचार्य द्वारा समुपलब्ध शिव सूत्रों पर भी विमर्शिणी नाम की टीका लिखी। उसी परम्परा में ये शिवसूत्र अभिन गुप्ताचार्य के शिष्य श्री क्षेपराज को मिले। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तानुसार शिवसूत्रों का भी सि;ान्त है कि - "शिव एव विश्वस्य आत्मा। शिव ही विश्व की आत्मा है। वह सर्वज्ञान क्रिया आदि में पूर्ण स्वतंत्र है। वह सर्पोपाधिविवर्मित है। शिव का अद्वैत रूप प्रतिपादित है। उसका उद्भव ही अद्वैत प्रतिपादन के लिये हुआ। शिव का अनुग्रह-आणविक, मायिव और कर्ममलों को दूर करने के लिये ही होता है। मलों के कारण बन्धन बना रहता है। मलों को नष्ट करने के लिये जो उद्यम होता है। अर्थात् पशु के पास कट जाते हैं। शुद्ध तत्व परम शिव ही है। क्योंकि वह माया और उसके ऊपर जो महामया है, उन दोनों से परे है। "शिवमयेवैतद्विश्वम्" समस्त-विश्व शिवमय हैं। इस प्रकार का विचार-विमर्श करना ही शु;तत्व की प्राप्ति का लक्षण है। यही जीव का आत्मज्ञान है। कश्मीर शैव दर्शन का उद्देश्य शिव और शक्ति का अभेद प्रतिपादन ही रहा है। अद्वैत भावना की परिपुष्टि होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रत्यभिज्ञा शब्द के अर्थ पर विचार करने से उसका अर्थ ही उसके सि;ान्त को स्पष्ट कर देता है। अर्थात् जो सर्वजगत् को व्याप्त कर आभासित हो रहा है उसको जानना या पहचानना या उसकी अनुभूति करना, इस प्रकार के विषय को जो शास्त्र बताता है, उसे प्रत्यभिज्ञाशास्त्र कहते हैं। क्योंकि इस सि;ान्त में सर्वम्शिवमयम् जगत्" शिवोकर्ता - शिवभोक्ता" इस धारणा की पुष्टि की जाती है। शिव ही अद्वैतभाव से ध्येय एवं ज्ञेय है। इस गत के अनुसार शिवत्वलाभ साधक अद्वैत भावना से, शिव चिन्तन के कारण, शिवतुल्य ही हो जाता है।

मुनियों ने सूत लोग हर्षण जी से निवेदन किया कि हमें ज्ञान का वह लक्षण बताइये जिसको जानकर साधक शिवत्व लाभ करता है। सब कुछ शिव ही है, इसको भी स्पष्ट कीजिये। सूत जी ने बताया कि ब्रह्म से लेकर तृणपर्यनत जो कुछ भी दृष्यमान् जगत् है, वह सब शिवमय ही है। जब उसकी इच्छा होती है, तब वह जगत को उत्पन्न कर लेता है। इसी बात को वही जानता है, उसे कोई भी नहीं जानता है। सब कुछ रचना करने पर भी वह सबसे दूर ही रहता है। वह पूर्ण स्वतंत्र है, निर्लिप्त हैं, चित् स्वरूपवान् है। जिस प्रकार चन्द्र का प्रतिबिम्ब जलादि पर पड़ता है किन्तु वास्तविक रूप में स्वयं चन्द्र ही जल में प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु प्रविष्ट

हुआ सा प्रतीत होता है, उसी प्रकार "शिव भी इस जगत में प्रतिभाषित सत्ता के रूप में ही रहता है और उससे दूर भी है।" आभास के क्रम के कारण वह दो रूपों में दिखाई देता है। आभासमान होने वाली उसकी शक्ति ही है जो उससे अभिन्न है। अज्ञान के भेद के कारण वह द्वैतबुद्धि से देखा जाता है। सभी दर्शनों में यह बु;भेद ही वर्णित है। जीव भी उसी का अंश है। वह अविद्या मोह से बद्ध होने के कारण "मैं अन्य हूँ" इस प्रकार की धारणा बना लेता है। उस अज्ञानपाश से मुक्त होने पर वह साक्षात् शिव ही हो जाता हैं, परमेश्वर में प्रतिबिम्वित यह विश्व अभिन्न होने पर भी भिन्न प्रतीत होता है। परमेश्वर की स्वतंत्र शक्ति के कारण बिना बिम्ब के ही जगत्रूप प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है। अतः द्वैत भावना कल्पित है।

आचार्य अभिनवगुप्त के ये विचार शिवपुराण से साम्य रखते है। शिवं पुराण में लिखा है-

यथा आदर्शरूपे च स्वीमं रूपं प्रवृत्ये।
तथा सर्वत्रग शंभु पश्यतीति सुनिश्चितम्।।[4]

अथैकचैव सूयोख्य ज्योतिर्नाना विधैजनैः।
जादौच विशेषेण दृश्यते तत्रचैवसः।।

अर्थात् जिस प्रकार दर्पण में अपने रूप का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, उसी प्रकार समस्त विश्व में शंभु ;शिवद्ध का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता है। जिस प्रकार एक ही सूर्य को भिन्न-भिन्न जल धराओं के कारण लोग बहुत्व रूप में देख लेते हैं, उसी प्रकार एक ही शिव की प्रति बिम्बात्मक भावना नानात्व का कारण है। वस्तुतः "सर्वशिवः "शिवः सर्वो नास्ति मेदश्चकश्चनः" यही अद्वैत की दृष्टि है।

परमशिव परमेश्वर ही अनुग्रह कारक है। महेश्वर ब्रह्मदिस्तम्यपर्यन्त भूतों ;प्राणियोंद्ध को मायापाश से बद्ध करता है। पाश से बद्ध होने के कारण प्राणियों को पशु कहते हैं। महेश्वर की आज्ञा से प्रकृति पुरूषोचित् बुद्धि को उत्पन्न करती है। बुद्धि अहंकार को पैदा करती है। उससे दसइन्द्रियां-पंच तन्मात्रा, पंचभूतों की उत्पत्ति होती है। ये सभी तत्व अपना-अपना कार्य गुणों के आधार पर करने लगते हैं, और काल-धर्म से मुक्त हो जाते हैं। काल भी उसी परमेश्वर का निग्रहकारी स्वरूप है। किन्तु परमेश्वर तत्व विकल्प रहित होता है। वह एक है, चिन्मात्र का स्वामी है, काल कल्पना से परे हैं। देश की अवधि से रहित है, उपाधियों से रहित निरूपाधिक है। शब्दों की सीमाओं में उसे बांधा नहीं जा सकता है, उसकी कोई आकृति नहीं है। प्रमाणों से उपलब्धि सम्भव नहीं है। वह इन सबसे परेस्वच्छन्द है,

विच्चिदानन्द है। परमशिव है - परमात्मा है। "वह तो स्वानूभूत्येक मान है" उसे तो सो जाने जेहि देहि जनाई, जो जाने सोई साँई होई जाई" की स्थिति में ही जाना जा सकता है। उसका कोई रूप कोई आकृति नहीं कोई नाम नहीं। नाम तो यो ही व्यावहारिक है। परमेश्वर को प्रत्यगात्मा कहते हैं। वह एक है "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" उस एक को ही विद्वान् लोग बहुरूप से कथन करते हैं। उसी का अक्षर-अव्यक्त आदि नामों से भी स्मरण किया जाता है। परमेश्वर तत्व आदिमध्यान्त हीन है। चिदानन्दमय रूप है।जो अक्षर है, ब्रह्म भी है, व सत् भी है, उस परमेश्वर को कौन जान सकता है। परमेश्वर परमात्मा वर्णनातीत है, दर्शनातीत है, व्यवहारातीत है। ग्रहणातीत है। आत्मप्रत्ययमात्र सि; है, शान्तिशिव अद्वैत और तुरीयपदस्थिति होकर भी तुरीयातीत है। परन्तु वह एकात्व ही सब तत्वों में अनुस्भूत है। उसी परमात्मा परमतत्व शिव की उपासना शिव, महादेव, ब्रह्म, नारायण पुरूष, कर्ता के रूप में की जाती है। यह जो स्वतंत्र रूप से विभवात्मक जितना भी भुवन जाल है उसे अपने गर्भ में धारण करने वाला, अनन्त विचित्र भोक्तृभोग्य जो महाप्रकाश रूप है परम शिव रूप है। तत्वों के कार्य-कारण भाव का मूल ही परमशिव है। यद्यपि अनौपचारिक रूप से ही उस परमशिव को कारण भी कहा जाता है, परन्तु वास्तव में कारण तो उसकी औद्भूतिक सामग्री ही होती है वस्तुरूप निश्पत्ति को वह अण्वात्मक सामग्री से ही करता है। वह कर्ता है और स्वतंत्र है। "न तस्य भिधते कार्य कारण च न विद्यते"[5]

आरम्भे भव सर्वत्र कर्मवा करणादिवा।[6]
विश्वमस्तु स्वतंत्रस्तु कर्ता तैत्रक को भवान्।।

परमशिव के दो रूप हैं - विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। उसका विश्वमय सर्जनात्मक रूप है। यह विश्वमय सर्जनात्मक रूप "शिवतत्त्व" कहलाता है। शिवतत्व परमशिव का स्पन्द है। जैसा कि षटत्रिंशतद् - तत्व- सन्दोह में कहा गया है-

यदयमनुत्तर मुतिर्निजेच्छया खिलमिदं जगत्स्त्रष्टुम्।[7]
पस्पन्दे स स्पन्दः प्रथमः शिवतत्वमुच्यते तज्ज्ञैः।।

अर्थात् जब अनुत्तर या परमशिव अपनी इच्छा से जगत् के सर्जन के लिये स्पन्दमान होता है तो उसका आद्यस्पन्द उसके जानकारों द्वारा "शिवतत्व" कहलाता है। अद्वैतरूप शिव के स्वरूप को पहचाने के उद्देश्य से क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञारूपी महासमुद्र से उस शिव के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुये प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में कहते हैं कि वह शिवतत्व जो चित् रूप है, वह स्वात्मरूपी-देवता ही सबका कारण है, उसी से परमार्थ की प्राप्ति हो सकती है तथा वही जीवन का उत्कृष्ट फल है। स्वतंत्र खिति

के द्वारा इस जगत् की व्याख्या करते हुये प्रस्तुत करते हैं कि- "चितिः स्वतंत्रता विशसिद्ध हेतुः"[8] अर्थात् स्वतंत्र चिति ही इस जगत् की सि; का हेतु है। इस पराचिति के ही प्रसरण से जगत् का अस्तित्व और स्थिति होती है। इसका प्रसरण जब समाप्त हो जाता है, तब जगत का संहार हो जाता हैं। इसमें अपना अनुभव ही साक्षी है। अन्य किसी वस्तु का, माया, प्रकृति इत्यादि का जो चिति प्रकाश से भिन्न है, अतः अप्रकाशित होने के कारण जिसका अस्तित्व ही नहीं है, कभी भी विश्व की सि; में कारणंत्व नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि माया, प्रकृति आदि भी प्रकाशित हैं तो वे प्रकाश से अभिन्न हो जायेगी। अतः कारण रूप में प्रकाशरूपी चिति ही हेतु है, न कि माया इत्यादि कोई वस्तु। इसलिये देशकाल और आकार जिनकी सृष्टि इसी से हुई है और इसी से अनुप्रापित है इसके स्वरूप के भेदत् में समर्थ नहीं है क्योंकि यह चिति व्यापक नित्य उदित् है और अपने आप में परिपूर्ण है।

यह शंका की जाती है यदि चिति ही सब कुछ है जगत् तो चित् से भिन्न होने के कारण इसका कोई अस्तित्व नहीं है, फिर चित् और जगत् में अभेद मानने पर कारण-कार्य भाव कैसे बन सकता हैं? इसके उत्तर में कहा जाता है कि स्वच्छ और स्वतंत्र होने के कारण चित् ही नाना प्रकार के अनन्त जगत् के रूप में उल्लिखित होती है। यहां कारण भाव परमार्थ होने के कारण चित् ही नाना प्रकार के अनन्त जगत् के रूप में उल्लिखित होती है। यहां कारण भाव परमार्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसलिये चित् ही प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेय-मय विश्व की सिद्धि में हेतु है, अतः इस स्वतंत्र अपरिच्छिन्न, स्वप्रकाशरूप चित् को सिद्ध करने में प्रमाण उपयुक्त नहीं है। यह चिति विश्व की सि; में तथा परम अद्वय से समरस कर देने वाले संहार में भी हेतु है, इसलिये यह स्वतंत्र है। जब इसके स्वातंत्र्य की पहचान हो जाती है, तो यह चित् शक्ति भोग मोक्ष रूपी इत्यादि से परिसीमित नहीं है समस्त भेदवादों की अवास्तविकता को व्यक्त करती है। स्वतंत्र शब्द ब्रह्मवाद से विलक्षणता को बतलाते हुये यह भी बतलाता है कि चित् का सार है महान् ऐश्वर्य। यहां यह प्रश्न उठता है कि चिति विश्व सिद्धि का हेतु है तो उसको उत्पादन इत्यादि की आवश्यकता होने से भेदवाद का त्याग नहीं हो सकता। इसका उत्तर देते हुये दूसरा सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

"स्वेच्छया स्वामित्तौ विश्वमुन्मीलयति"[9]

अर्थात् अपनी ही इच्छा से अपनी ही भित्ति पर (आधार पर) वह चिति विश्व को व्यक्त करती है। अपनी ही इच्छा से उस इच्छा के द्वारा ही बिना किसी उपादान सामग्री के ही इस जगत् की सृष्टि हो जाती हैं। प्रथम सूत्र में निश्चित रूप

से बतलाये हुये विश्व को दर्पण में नगर के समान अभिन्न होते हुये भी भिन्न के समान व्यक्त करती है। इस सूत्र में उन्मीलन शब्द चिति में पहले से अव्यक्त रूप में जो स्थित है उसको व्यक्त करने के अर्थ में प्रयुक्त है तथा सृष्टि से पूर्व इस जगत् का प्रकाश रूप में ही स्थित रहना बतलाया गया है।

चिति की स्वतंत्रता से जो विश्व की सिद्धि की गयी है, उस विश्व के स्वरूप को विभाग द्वारा स्पष्ट करने के लिये कहते हैं - "तन्नाना अनुरूपग्राहाग्राहकभेदात्"[10] अर्थात् यह विश्व परस्पर प्रमेय और प्रमाता के भेद से नाना प्रकार का है। सदाशिवतत्व में किस प्रकार यह विश्व "मैं" के भाव से आच्छादित है और जिसमें "इस" का भाव अस्फुट है, प्रमेय का विषय है, जो ग्राहय है। उसी के अनुरूप मंत्रमहेश्वर नाम के प्रमाता भी हैं जिनके अधिष्ठाता पूज्य सदाशिव हैं और जिनकी उस दशा में स्थिति परमेश्वर की इच्छा से होती है। ईश्वर तत्व में जिस प्रकार का विश्व ग्राहय या विषय है जिसमें कि "मैं" और "यह" समान रूप से स्फुट या स्पष्ट है उसी प्रकार उसमें मन्त्रमहेश्वर वर्ग ग्राहक या प्रभाता है। उस मन्त्रेश्वर वर्ग का अधिष्ठाता पूज्य ईश्वर है। शुद्ध विद्या पद में जैसे भिन्न-भिन्न "मंत्र" प्रमाता या ज्ञाता होते है वैसे ही उनके द्वारा यह प्रमेय या शेष विश्व भी ऐसा है जिसका भेद ही एक सार है। इस शुद्ध विद्या से नीचे तथा माया से उपर जिस प्रकार विज्ञानाकल प्रमाता है जो कर्तुता से शून्य है और शुद्ध है और शुद्ध बोधरूप है उसी प्रकार उससे अभिन्न और पूर्व अवस्था में परिचित सकल और प्रलयाकल उनके प्रमेय है। माया के स्तर पर शून्य प्रमाता होते हैं जिनका ज्ञेय विषय शून्य प्राय होता है। इन सवसे परे शिव भट्टारक या शिव है जो कि केवल प्रकाश रूप है और जिसकी सभी अवस्थाये भी प्रकाश रूप ही हैं। परमशिव की अवस्था में जो कि विश्वातीत एवं विश्वमय दोनों तथा जो परमानन्द रूप है, जो सधन प्रकाश है, सब कुछ शिव से लेकर पृथ्वी तक अभेद रूप से ही प्रकाशित हो रहा है। वस्तुतः अन्य कोई ग्राहय-ग्राहक है ही नहीं। इस सूत्र का तात्पर्य यही है कि यह शिव ही सहस्त्रों भिन्न रूपों में प्रकट हो रहा है। जिस प्रकार भगवान् का शरीर रूप ही यह विश्व है, वैसे ही

"चितिसंको चात्मा चेतनोडपि संकुचित विश्वमयः[11]

अर्थात् वह चेतन भी जिसमें उपयुक्त रूप में प्रकाशित रूप में प्रकाशित करने की इच्छा रखते हुये, पहले प्रकाश से अभिन्न रूप में प्रकाशित होत्ते हैं। इस अवस्था में चिदैक्य की अख्याति हो जाती है। इन अवस्था का अनाश्रित शिव पर्याय है जिसमें शून्य से भी अधिक शून्य रहता है। इसके अनन्तर वह सब तत्व, भुवन,

भाव और इनके प्रमाताओं के रूप में भी प्रकाशित होना है। ये सब चिद्रस के धनीभूत रूप है और जैसे सम्पूर्ण विश्व परमशिव शरीर है वैसे ही उस चेतना का जिसका चित् संकुचित हो गया है, संकुचित रूप में समस्त विश्व शरीर है। अर्थात् "एक शरीर और शरीरी में सब शरीर और शरीरियों का अन्तर्भाव है।" त्रिशिरोमत में भी कहा गया है-

सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं श्रृणु प्रिये।[12]
पृथिवी कठिनत्वेन ब्रवत्वेडम्भः प्रकीर्तितम्।।

अर्थात् "यह शरीर सभी देवों का रूप है। हे प्रिये इसके विषय में सुनो। काठिन्य के कारण यह पृथ्वी कहलाता है और द्रवत्य के कारण जल।" इस प्रकार प्रारम्भ करके "तीन शिरवाला भैरव विश्व में व्याप्त होकर साक्षात् व्यवस्थित है।" ऐसा कहकर अन्ततः यही बतलाया है कि ग्राहक या प्रमाता संकुचित रूप में विश्वमय ही है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि प्रमाता उस शिव से अभिन्न है क्योंकि वह शिव के समान प्रकाशस्वरूप है। केवल उसकी माया शक्ति के कारण वह प्रमाता अपने स्वरूप के अभिव्यक्त न होने के कारण सुकुचित जैसा लगता है। यदि संकोच प्रकाशित नहीं होता तो वह कुछ भी नहीं है, यदि प्रकाशित होता है तो वह चिद्रूप ही है। इस प्रकार सभी ग्राहक सभी ग्राहक वह शिव ही है जिसका विश्व शरीर है। चित्त का निश्चित स्वरूप स्पष्ट करने के लिये कहते है-

"चितिरेव चेतनपदादवरूढ़ा चेतय सोंचिनी चित्तम्"[13]

अर्थात् चिति ही चंतन पद से उतरकर चित्त बन जाती है क्योंकि चेत्य के अनुकूल वह संकुचित हो जाती है। चिति ही चित्त है। जब वही अपने स्वरूप को छिपाकर संकोच ग्रहण करती है, तो दो गति होती है - कभी जो संकोच प्रारम्भ हो रहा है उसे गौण करके चित् के प्रधानता के रूप में प्रकाशित होती है, कभी संकोच के प्रधानता होने पर विज्ञान कल की अवस्था होती है और विमर्श सहित प्रकाश के प्रधान होने पर विद्यान्प्रमाता की अवस्था होती है। इस स्थिति में भी क्रम से संकोच के कम होने पर ईश, सदाशिव और अनाश्रित शिव की दशा प्राप्त होती है। संकोच की प्रधानता से शून्यादि प्रमाता होते हैं। इस प्रकार से स्थित होने पर चिति ही संकुचित प्रमातत के रूप में चेतन पद से उतरकर विषयों को ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होकर चेत्य अर्थात् प्रमेयों- जैसे- नील, सुख आदि से संकुचित होकर, बाहय और आन्तर दो प्रमेयों से संकुचित होकर त्ति बन जाती है। समष्टिचेतना (चिति) ही संकोच के कारण, परिच्छिन्न होकर चित्त अर्थात् व्यष्टि चेतना बन जाती है। इसी प्रकार उत्पलदेव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है कि-

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युज्ञानं क्रियाच या।
माया तृतीये ते एव पशोः सत्वं रजस्तमः।।[14]

अर्थात् शिव की जो ज्ञान, क्रिया और तीसरी माया शक्तियां हैं वे ही अपने अंग रूप पदार्थों के विषय में पशु दशा में क्रमशः सत्व, रजस और तमस बन जाती हैं। अन्य मृक्तियों से भी यह स्पष्ट है कि चितिशक्ति ही पशु की दशा में संकोच के बढ़ जाने के कारण सत्व, रज और तम के स्वभाव वाले चित्त के रूप में प्रकट होती है। विकल्प दशा में भी जीव की अन्तः चेतना तात्विक स्वरूप में ही रहती है। इस प्रकार परमाथ का अनुसरण करने वाले के लिये स्वरूप के स्वप्रकाशत्व का लोप नहीं होता। चित्त ही माया प्रमाता का स्वरूप है, इसलिये कहते है।- "तन्मयोमायाप्रमाता"[15] अर्थात् मायाप्रमाता चित्तमय होता है। देह और प्राण के क्षेत्र में तो चित्त प्रधान है ही, शून्यभूमि में भी चित्त का संस्कार रहता है। नहीं तो शून्य के अनुभव के बाद व्युत्थान दशा में आने में अपने कर्तव्य का अनुसरण सम्भव न होता। शून्य दशा में भी चित्त यद्यपि क्रियाशील नहीं रहता तथापि उसके संस्कार वर्तमान रहते हैं। इसलिये मायामुक्त प्रमाता चित्तमय ही है। इसीलिये शिव सूत्रों में वस्तु स्थिति को बतलाने के लिये समय चैतन्यमात्मा अर्थात् चैतन्य ही आत्मा है, कहकर माया प्रमाता के लक्षण को बतलाने के समय चित्तमात्मा यह कहा है।

आत्मा के स्वरूप का एक-एक करके विश्लेषण करने के अभिप्राय से कहते है।-

"स चैको द्विरूपस्त्रिमयसुरात्मा सप्तपञ्चक स्वभावः"[16]

अर्थात् यद्यपि द्विरूप, त्रिमय, चर्तुमय और सात पंचक स्वभाव वाला है। चित् रूपी भगवान शिव एक आत्मा है, दूसरा कोई नहीं। क्योंकि प्रकाश का देशकाल आदि द्वारा भेद नहीं किया जा सकता। प्रकाश ही अपने स्वन्त्रय से प्रमाण इत्यादि संकोच को धारण कर लेता है और सुकुचित विषयों के ज्ञाता बनाता है अतः वह प्रकाशरूप और संकुचित अवभास रूप के कारण द्विरूप बन जाता है आणव, मायीय और कार्ममल से आवृत्त होने के कारण वह त्रिमय भी कहलाता है। वह शून्य, प्राण, पर्यटक और स्थूल शरीर का स्वभाव ग्रहण करता है। इसलिये वह चतुरात्मा कहलाता है। सूत्र में जो सप्तपच्चक शब्द है उसे दो प्रकार से समझ सकते है। पहले प्रकार में आत्मा का सात पंचक वाला स्वभाव है। अर्थात् शिव से पृथ्वी तक वह (7.5 = 35) 35 तत्वों के स्वभाव वाला है। इसमें सप्त और पंचक को अलग-अलग लेकर समझा गया है। वह आत्मा शिव से लेकर सकल तक सात प्रमाताओं के स्वरूपवाला है। वह आत्मा यद्यपि चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप वाला है तथापि

अख्याति या अज्ञानवश वह कला, विद्यास, राग, काल, नियति, कंचुकों से ग्रस्त हो जाने के कारण पांच स्वरूप वाला हो जाता है। इस प्रकार जब पैंतिस तत्वमय के रूप में, सात प्रमाताओं के स्वभाव में, चित् इत्यादि पांच शक्तियों के रूप में भली-भांति समझ लिया जाता है कि यह एक शिव ही है तब यह ज्ञानमुक्तिदायक होती है।

"तद्भूमिकाः सर्वदर्शन स्थितयः"[17]

अर्थात् इस सूत्र के द्वारा यह प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं कि सभी दर्शनों की स्थितियों उस आत्मा की भिन्न-भिन्न भूमिकायें हैं। चार्वाक के अनुसार चैतन्य से विशिष्ट शरीर ही आत्मा है। नैयायिक आदि संसार दशा में ज्ञानादि गुण समूहों के आधार बुद्धि तत्व को ही प्रायः आत्मा मानते है। अपवर्गदशा में वे आत्मा को प्रायः शून्य ही समझते हैं। जो सुख दुःखादि उपाधियों से ढका हुआ अहं की प्रतीति से जाना जाता है वह आत्मा है - ऐसा मानने वाले मीमांसक लोग भी बु; में ही आत्मा के अस्तित्व को मानते हैं। उपनिषद् में जो यह कहा गया है कि यह सब कुछ पहले असत् ही था। इस आधार पर कुछ वेदान्ती जो अभाव को ही ब्रह्म कहते हैं वे शून्य पद में ही प्रवेश कर स्थित हैं। माध्यमिक लोगों की भी यही दशा है। पंचरात्र को मानने वाले लोग जीव को ही पराप्रकृति के परिणाम मानने के कारण वे अव्यक्त में ही चिपटे हुये हैं। सांख्य इत्यादि प्रायः विज्ञानाकल भूमि का आश्रय लेते हैं। वैयाकरण लोग आत्मतत्व पश्यन्ती रूप में शब्द ब्रह्ममय है - यह मानते हुये सदाशिव पद में ही भटके रहते हैं। इसी प्रकार अन्य दर्शनों के विषय में भी अनुमान कर लेना चाहिये कि वे त्रिक दर्शन के एक अंश तक ही परिसीमित है। त्रिकादि दर्शन के जानने वाले कहते हैं कि आत्मतत्व शिव से परे भी है और विश्वमय भी है। इस प्रकार सभी शास्त्र भगवान् शिव की विभिन्न भूमिकायें है जिनको शिव अपने स्वतन्त्रय से प्रदर्शित करते है। वैष्णव आदि जो परिमित विद्या के रंग से रंगे हुये हैं उस परमदेव को नहीं जानते जो सर्वज्ञ है और ज्ञान स्वभाव वाला है। इसी प्रकार स्वच्छन्द तंत्र में कहा है -

"भ्रमयत्येव तान्माया हामोक्षे मोक्ष लिप्सया"[18]

अर्थात यह माया ही जो उन लोगों को चक्कर में डाल देती है जो अमोक्ष में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं और नेत्रतंत्र में कहा गया है-

"त आत्मोपासकाः शैवं न गच्छन्ति परं पदम्"[19]

अर्थात् जो परिच्छिन्न को आत्मा समझकर उसमें अनुराग रखते हैं वे शिव

रूपी परम पद को नहीं पहुंच सकते। यहां यह शंका की जाती है कि यदि आत्मा की ऐसी महत्ता है तो कैसे वह मल से ढक गया है? कला आदि कंचुको से कैसे धिर गया है? जिससे वह जीव और संसारी कहा जाता है। इस प्रश्न के उत्तर में कहते है -

''चिद्वत्तच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी''[20]

अर्थात् जो चित्स्वरूप है वह शक्ति के संकोच से मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है। जब चित्स्वरूप परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेद को लीन कर भेद का अवलम्बन करता है तब उसकी इच्छा स्वभावतः असंकुचित होते हुये भी संकुचित जैसे लगते लगती है, तब यह जीव मल ढका हुआ संसारी बन जाता है। इस प्रकार परमेश्वर की इच्छा शक्ति संकुचित होकर आणव मल बन जाती है जिसके द्वारा जीव अपने को अपूर्ण मानने लगता है। क्रम से संकोच के कारण भेद की अवस्था में ज्ञान शक्ति का सर्वज्ञत्व किंचिज्ज्ञत्व को पहुंच जाता है और अत्यन्त संकोच ग्रहण करने पर वह अन्तःकरण और ज्ञानेद्रियों की अवस्था प्राप्त कर मायीय मल धारण कर लेती है जिसका स्वभाव है सब वस्तुओं को भिन्न रूप में जानना क्रम से भेद की अवस्था में क्रिया शक्ति का सर्वकर्तृत्व की दशा में पहुंच जाता है और क्रियाशक्ति कर्मेन्द्रियरूप संकोच को ग्रहण करके अत्यन्त परिमित अवस्था को प्राप्त होकर कार्ममल को धारण कर लेती है। इसी प्रकार सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व, व्यापकत्व शक्तियां संकोच ग्रहण करके यथाक्रम कला, विद्या, राग, काल और नियति के रूप में भान होती है। इस रूप में जीव संसारी कहलाती हैं। प्रश्न यह है कि जब जीव संसारी की अवस्था में रहता है तो इस अवस्था में शिवत्व के अनुरूप कोई पहचान है जिससे यह जाना जा सके कि शिव की दशा में अवस्थित है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुये कहते हैं - ''यथापि तद्वत् पच्च कृत्यानि करोति''[21]। अर्थात् इस दशा में भी जीव शिव के समान पांच कृत्य करता है। शास्त्रें में कहा गया है कि शिव का सदा प्रकार का कृत्य चलता रहता है -

सृष्टि संहार कर्तारं विलय स्थिति कारकम्।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम्।।[22]

अर्थात् ''मैं सृष्टि और संहार को करने वाले, विलय और स्थिति को करने वाले, अनुग्रह करने वाले और अपने सम्मुख भक्त के दुःख का नाश करने वाले देव को प्रणाम करता हूं'' इसी प्रकर ईश्वर प्रत्याभिज्ञा में कहा गया है -

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देद्यदिमाविशन्।
भानतमेवान्तरयैधिमिच्छया मासयेद्वहिः।।

अर्थात् व्यवहार दशा में भी प्रभु देह इत्यादि में प्रवेश कर अपने भीतर प्रकाशमान् अर्थ-समूह को अपनी इच्छा से बाहर व्यक्त करते हैं।" महेश्वर देह प्राण इत्यादि में प्रवेश करके बहिर्मुखीभाव के अवसर पर जब नील इत्यादि विषयों को नियत देश काल इत्यादि में आभाषित करते हैं, तब नियत देश काल इत्यादि में जो आभाषित हो रहा है यह उनकी सृष्टिक्रिया है, विषयों का अन्य देश और काल में आभाषित होना उनकी संहार क्रिया है, नील इत्यादि कि स्थिति का बना रहना उनकी स्थिति क्रिया है, भेद से आभास होना उनकी विलय क्रिया है, और विषयों का चित्प्रकाश के ऐक्य से प्रकाशित होना उनकी अनुग्रह क्रिया है। इस प्रकार शिव सदा इन पांच प्रकार के कृत्यों को करते रहते हैं। पंच कुत्यों को करने का एक दूसरा रहस्य रूप पंचकृत्य है जिसे सूत्र में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है-

"आभासन - शक्ति - विमर्शन - बीजावस्थापन विलापन तस्तानि"[23]

अर्थात् प्रकाशन-आस्वादन, आत्मबोध, बीच का अवस्थान, विलापन भेद से पांच कृत्यों को करता है। क्रमशास्त्र की दृष्टि से नेत्रेन्द्रिय देवियों के प्रसरण से जो कुछ प्रकाशित होता है वह सृष्टि है। सृष्टि हो जाने पर बिना आंख बन्द किये हुये कुछ काल तक जब जीव उसमें आस्वादन या आनन्द लेता है तब स्थिति देवी द्वारा वह स्थापित किया जाता है। यही स्थिति है। विमर्शन जिसकी दूसरी संज्ञा चमत्कार है- के समय संहार होता है। जब ज्ञानरूप में सिमट जाने पर भी भीतर विचित्र शंका खड़े होते हैं, तो फिर से होने वाले संसार बीज जिसका अनुभव हो रहा है, हठपाकक्रम से चिदग्नि सद्‌भाव को प्राप्त हो जाता है तो पूर्णता प्राप्त हो जाने के कारण वह अनुग्रह का अनुभव करता है। सद्‌गुरू के उपदेश के बिना जिसको यह ज्ञान नहीं होता उसको अपनी ही उन शक्तियों से मोह होता है जिनका वास्तविक स्वरूप ढका हुआ है। इसबात को स्पष्ट करने के लिये सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

"तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामोहितता संसारित्वम्"

अर्थात् संसार दशा उसके पंचकृत्य अज्ञान के कारण अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाना है। सूत्र में तत् शब्द का अर्थ है "सदा होते रहने वाले पांच प्रकार के कृत्यों के करने का"। "अज्ञान" का अर्थ है शक्तिपात के कारण अपने बल का जो प्राकट्य होता है उसके अभाव के कारण अप्रकाशनं अपनी ही शक्तियों से मोहित हो जाने का अर्थ है नाना प्रकार की लौकिक और शास्त्रीय शंकारूपी कीलों से जकड़ उठना। यही संसार दशा है। भट्टदामोदर अपने मुक्त स्त्रोतों में कहते हैं - बामेश्वरी आदि शक्तियां प्रमाता में अवस्थित होकर, अन्तकारण में अवस्थित होकर बहिस्करणों में अवस्थित होकर भोवों में अवस्थित होकर परिज्ञान द्वारा पूर्ण बनाते हुये मुक्ति देनी

हैं और अज्ञान द्वारा उसे अवच्छिन्न बनाते हुये बन्धन में डालती है। इस प्रकार अपनी शक्तियों द्वारा व्यामोहित हो जाना हीं संसार दशा है। जिनकी शक्ति संकुचित हो गयी है वह जब अपनी शक्तियों से व्यामोहित नहीं होता तब प्राण इत्यादि धारण करते हुये भी वह शरीर धारण किया हुआ परमेश्वर है, शिव ही है। मनुष्य के देह में स्थित होकर वे छिपे हुये परमेश्वर हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा टीका में कहा गया है -

शरीरत्मवे धटाद्यपि वा ये षट् त्रिशत्तत्वमयं।
शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति।।[25]

अर्थात् जो छतीसतत्वमय शरीर अथवा धट इत्यादि को शिव रूप से देखते हैं वे सिद्धि को प्राप्त करे हैं। इस सूत्र के अर्थ को विपर्यय द्वारा तत्व दृष्टि को बतलाने के लिये कहते है -

''तत्परिज्ञाने चिततमेव अन्तर्मुखीभवेने चेतन पदाध्यारोहात्:''[26]

अर्थात् उसके पूर्ण ज्ञान होने पर चित्त ही अन्तर्मुखी भाव से चेतन पद पर पहुंच जाने से चिति हो जाता है। सूत्र में तत् का अर्थ है आत्मा के पंचकृत करते रहने का। परिज्ञानें का अर्थ है अज्ञानरूपी कारण के द्वारा न्यामोहित हो जाने के स्वभाव के चले जाने पर स्पातन्त्रयलाभ से पहले जिस चित्त की व्याख्या हो चुकी है वही संकोच स्वभाव वाली बहिर्मुखता को छोड़कर, अन्तर्मुखी भाव से चेतन पद पर चढ़कर संकोच कला के विगतिल हो जाने पर अपने वास्तविक स्वरूप की प्राप्ति से चिति हो जाता है। यहां पर शंका होती है कि यदि चित् शक्ति का सब भेदों को विलीन कर अभेद को व्यक्त करना स्वभाव है, तो माया से आच्छादित रहने पर भी उसे अभेद की प्रतीति करानी चाहिये। इस पर ग्रन्थकार का कहना है-

''चितिवह्निखरोहहपदे छन्नोऽपि मात्रया मेयेन्धनं प्लुश्याति''[27]

अर्थात् चिति रूपी अग्नि अवरोह पद में आच्छादित रहने पर भी प्रमेयरूपी इंधन को कुछ अंश में जला देती है। चिति को यहां वह्नि या अग्नि इसलिये कहा गया है क्योंकि उसका विश्व को खा जाने का स्वभाव है। यह अवरोह पद में - माया प्रमाता की अवस्था में, छन्नोऽपि, अर्थात् अपने स्वातंत्र्य से ही माया द्वारा अपने स्वभाव के आच्छादित होने पर भी कुछ अंग में नील, पीत आदि प्रमेय रूपी इंधन को जला देती है'' अर्थात् आत्मसात् कर लेती है। इसका तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय चिति द्वारा आत्मसात् कर लिया जाता है तब ज्ञेय का ज्ञान से भेद मिट जाता है, जब ज्ञेय ज्ञान का ही अंश हो जाता है। मात्रा या अंश का यह अंश भाव है कि चिति ज्ञेय को पूर्ण रूप से ग्रसित नहीं करती, बल्कि अंश में ही ग्रसित करती है।

जैसे उत्पलदेव ने शिव स्तोत्र में कहा है कि "सभी जीव ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र विश्व को ग्रसित करते रहते हैं इसलिये हे देव मैं आपके रूप वाले विश्व की वन्दना करता हूं।"[28] आप विश्व का आहरण कर लेते हैं। इसलिये विश्व आपका स्वरूप ही है। इसी बात को अगले सूत्र में कहते हैं-

"बतलाये विश्वमात्य-सात्करोति"[29]

अर्थात् चिति (चित्तशक्ति) के बल को प्राप्त करने पर वह विश्व का आत्मसात् कर लेता है। जब चिति का बल प्राप्त हो जाता है, तब वह पृथ्वी से लेकर सदाशिव तक सारे विश्व को आत्मसात् कर लेता है अर्थात् विश्व को अपने स्वरूप से अभिन्न रूप में भासित करता है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि सामावेश भूमि जिसमें विश्व का आत्म-सात्कार हो जाता है कभी-कभी ही होती है। इसमें यह ग्रहण करने योग्य नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि देह इत्यादि के आविर्भाव और विरोभाव के कारण ही चिति की यह दशा कभी-कभी होने वाली जैसा लगती है। वस्तुतः समावेशभूमि का कदाचित्काव द्रेह इत्यादि के अविर्भाव के ही कारण है। समावेश भूमि सदा प्रकाशमान् है। यदि ऐसा न होता तो देह इत्यादि का भी प्रकाशन होता। इसलिये अभ्यास प्रमाता का जो देह इत्यादि के साथ मिथ्यातादात्म्य है उसे हटाने के लिये हैं, उस प्रमाता के भाव को प्राप्त करने के लिये नहीं है जिसका स्वभाव ही सदा प्रकाश-मानता है। इस प्रकार के जीवन मुक्ति का लक्षण बताते हुये कहते हैं:- "चिदानन्दलाभे दोदिषु चेत्यमानेश्वापि चिदैकात्म्य प्रतिपत्तिदार्ढ्य जीवन्मुक्तिः"[30] अर्थात् चिदानन्द लाभ होने पर देह इत्यादि का अनुभव होने पर भी चित् से एकात्मता का बोध दृढ़ हो जाता है। यही अवस्था जीवन्मुक्ति कहलाती है। चिदानन्द के प्राप्त होने पर जिसमें विश्व से एकात्मता का बोध होता है। व्युत्यानदशा में परत के समान देह, प्राण, नील, सुख आदि का मान होते हुये भी समावेश के संस्कार बल से और उस उक्तिक्रम से पुष्ट हो जाने से जिसका प्रतिपादन आगे किया जायेगा जो चित् के साथ तादात्म्य के बोध को दृढ़ता हो जाती है वही जीवन्मुक्ति है। चिदान्द का लाभ किस प्रकार होता है? इसके विषय में सूत्रकार कहते है -

"मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः" अर्थात् मध्य के विकास से चिदानन्द का लाभ होता है। चित् शक्ति ही "मध्य" है। यही सब कुछ के अन्तरतम रूप में विद्यमान है, क्योंकि किसी का भी स्वरूप सम्भव नहीं जब तक वह संवित् (चित् शक्ति) रूप आश्रय से न लगा हो। संवित् ने माया दशा में अपने स्वरूप को छिपाकर पहले संवित् प्राण में परिणत हुई" इस नीति के अनुसार प्राण शक्ति भूमि को स्वीकार करके अवरोह क्रम से बुद्धि दह इत्यादि भूमियों में रहती हुई सहस्त्र नाड़ी के मार्ग

का अवलम्बन किया। वहां भी वह मुख्यतः ब्रह्मारन्ध्र से अधोवक्त्र तक पलाशपत्र की मध्यतन्तु के समान मुख्यतः मध्यमा नाडी के रूप में स्थित है जिसका आश्रय प्राणशक्तिरूपी ब्रह्म है। क्योंकि समीचित्त वृत्तियों का वहीं से उदय एवं लय भी वही है। ऐसा होते हुये भी वह पशुओं के लिये अपने स्वरूप को छिपाये हुये स्थित है। जब मध्यरूपनी ब्रह्म नाड़ी का विकास होता है, तब उसके विकास से उक्त रूप चिदानन्द का लाभ अर्थात् प्राप्ति होती है। उसके अनन्तर पूर्ववर्णित जिवन्मुक्ति होती है। इस मध्य के विकास में उपाय बतलाते हुये कहते हैं -

''विकल्पक्षय शक्तिसंकोचविकासवाहच्छेदाद्यन्तकोटि नियाल नादय इहोपाया:''

अर्थात् विकल्पक्ष, शक्ति का संकोच और विकास, बाहों का ध्वंस आदि और अन्त काटियों अन्ती का अभ्यास इत्यादि यहां मध्य के विकास में उपाय हैं। मध्यशक्ति के विकास में विकल्प क्षय आदि उपाय हैं। चेतना जो कि सब कुछ का केन्द्र है' का विकास पहले बतलाये हुये पांच प्रकार के कृत्यों के करने के अनुसरण से होता है। जब साधक अपने चित्त को हृदय में एकाग्र करके, बतलाये हुये उपाय से, अपनी वास्तविक दशा के वाधक विकल्प को, बीना किसी अन्य प्रकार के चिन्तन के, रोक, कर अविकल्प के आश्रय के द्वारा अपनी पारमार्थिक चेतना को प्रमाता समझने का अभ्यास कर लेता है, जब वह शीघ्र ही विकास की ओर उन्मुख हुई तुर्य और ''तुर्यातीत'' में समावेश की दशा को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार विकल्प के त्याग और एकाग्रता से, क्रमशः ईश्वरता पद को प्राप्त कर लेता है। साधक के समाधि के नित्य प्रकट रहने का अर्थात् शाश्वत समाधि का उपाय कहते हैं -

''समाधिसंस्कारवति व्युत्थाने भूयो भूयचिदैक्यामर्शान्नित्योदिन समाधि लाभ:''[32]

अर्थात् समाधि के संस्कार से परिपूर्ण व्युत्यान में बार-बार चित् के साथ अपने ऐक्य का चिन्तन करते रहने से शाश्वत समाधि का लाभ होता है। वह योगी जिसने समाधि को प्राप्त कर लिया है, समाधि के आनन्द से झूमता हुआ, चिद्गगन में पदार्थों के समूह को बादल के टूकड़े के समान लीयमान देखता हुआ, बार-बार अन्तर्मुखता का अवलम्बन करता हुआ निमीलन समाधि की प्रक्रिया द्वारा, चित् से अपने ऐक्य का चिन्तन करता हुआ, जो व्युत्थान समझा जाता है, उस समय भी वह समाधि रस से अभिन्न ही रहता है। अब इस समाधि का फल बतलाते हुये शिव के स्वरूप का वर्णन करने के उद्देश्य से सूत्र प्रस्तुत करते हैं - ''तदा प्रकाशानन्दसार महामंत्रवीर्यात्मक पूर्णाहन्ता वेशात्मदा सर्वसर्ग संहार कारिनिज संविद्देवताचक्रेश्वरताप्राप्तिर्भवतीति शिवम्''[33] अर्थात् तब क्रममुदा सिद्धि के अनन्तर प्रकाश और आनन्द का सार, महामंत्र विर्यरूप पूर्ण अहन्ता में समावेश होने से अपने

उस संवित् के समूह पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है जो समूह सारे विश्व की सृष्टि और संहार करता रहता है। यह सब शिव का स्वभाव है। नित्योपादित समाधि के प्राप्त होने पर जो यह पूर्ण अहनता अर्थात् स्वात्मरूपी आनन्द है, जो कि प्रकाशानन्दसार है, जो महामंत्र की वीर्यात्मक है उसमें समावेश होने से कालाग्नि से लेकर अन्तिम काल तक विश्व का जो सर्वसंहार करने वाला जो अपना संविद्देवता समूह है उस पर प्रभुत्व की प्राप्ति होती है। यह प्रभुत्व परमयोगी को ही प्राप्त होता है। इस सूत्र में जो "इति शिवम्" है उसका तात्पर्य यह है कि यह सब शिव का स्वरूप ही है। जो कुछ भी प्रमेय है उसका स्वरूप प्रमाण है और प्रमाण का भी तात्विक स्वरूप अन्तर्मुखी आत्मचेतनापूर्ण प्रमाता है। उन प्रमाताओं की भी सदमशिवेश्वरता सार है जिसमें देह इत्यादि संकुचित अनुबंधों से तादात्म्य का भाव विमलित हो गया है और जिसका शरीर समस्त विश्व है। उस सदाशिवेश्वरता का भी परम सार महेश्वर है जो समस्त विश्व के चमत्कार से परिपूर्ण है जो कि प्रकाशन के साथ एक सद्भाव से धटित होता है। वह परमेश्वर आनन्द के प्रसार से भरा है क्योंकि वह स्वातन्त्र्य का सार है। सम्पूर्ण जगत रूपी आनन्द के ऐक्य भाव से सम्पन्न होने से वह सर्वथा परिपूर्ण है और सब आकांक्षाओं से रहित है। अजड़ प्रमातृ सिद्धि में कहा गया है-

प्रकाशस्यात्म विश्रान्तिरहं - भावो हि कीर्तितः।[35]
उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः।।

स्वातन्त्र्यमय कर्तृत्वं मुख्यमिश्वरतापि च।

अर्थात् "सभी वेद्य रूपी प्रकाश की अपने भीतर विश्रान्ति "अहंभाव" कहलाता है। इसी विश्रान्ति को समस्त अपेक्षाओं के निरसन होने पर स्वतन्त्रय, मुख्य कर्तृत्व और ईश्वरता कहते हैं।" यही अहन्ता महती शक्ति भूमि है। यही सभी मंत्रो के उदय और विश्रान्ति का स्थान है। यही वह महा सरोवर है। महामंत्र शक्तिरूपी पूर्ण अहनता में आवेश कहने का तात्पर्य है "देह प्राण इत्यादि के उसमें निमज्जन से अर्थात् उस पद की प्राप्ति की स्थिरता से देह, नील इत्यादि वेद्यों को उसके रस में निमग्न कर तन्मय कर देना।" बिना उसके स्कुरण के कुछ भी प्रकाश में नहीं आ सकता है। वस्तुतः यह चित् शक्ति एक हीं है, जैसा कि कहा गया है-

मायाशक्तया विभोः सैव भिन्न संवेध गोचरा।[36]
कपिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः।।

अर्थात् यह जो संविद् भिन्न-भिन्न पदार्थें के क्रम से रज्जित है वह क्रम रहित अनन्त चित् रूप श्रेष्ठ प्रमाता महेश्वर ही है। "इति शिवम्" पद में इति शब्द

उपसंहार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है - और शिव शब्द का भाव यह है इस छोटे ग्रन्थ का जो शरीर है वह सब शिव है, वह शिव स्वरूप से अभिन्न और शिव ही है। शिव शब्द की दो प्रकार से व्युत्पत्ति हो सकती है -

1 अदादिगण के "शी" धातु से जिसका अर्थ होता है "शयन करना"। जिसमे सब कुछ शयन करता है वह शिव है।

2. दिवादिगण के "शो" धातु से जिसका अर्थ होता है दुर्बल कर देना। जो सब दुःखो और पापों को दुर्बल कर देता है, वह शिव है। ये दोनों ही अर्थ शिव में निहित हैं। शिव समस्त सृष्टि का अधिष्ठान और परम् कल्याणकारी है जो अपने अनुग्रह से सभी जीवों का उद्धार करता है। वह तात्विक और आध्यात्मिक दोनों दृष्टियों से सबका मूल है। भोग भी उसी से होता है और मोक्ष भी उसी से होता है। इस अद्वैतवादी शैव दर्शन को दक्षिण के द्वैतवादी शैव दर्शन से पृथक् करने के लिये इसे कश्मीर का शैव दर्शन भी कहते है। स्पन्दकारिका में शिव के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा है -

"यस्योन्मेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयो।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः"[37]

अर्थात् हम उस अनुग्रहमूर्ति शिव को प्रमाण करते हुये, उसी स्वरूप में समाविष्ट हो जाते हैं, जिसके उन्मेश निमेश मात्र से ही सारे जगत् की सृष्टि और संहार की क्रीड़ा सम्पन्न हो जाती है और जो शक्ति चक्रम् के वैभव के अनन्तरूपों में प्रवाहमान एक ही स्पन्दशक्ति की अनन्त धाराओं के संयोजन और वियोजन का मूल कारण है। सभी नामरूपात्मक व्यक्त और अव्यक्त विश्व को जीवन देने वाली एवं प्रत्येक पदार्थ की आत्मभूत एक ही चैतन्य सत्ता शाश्वत रूप में विद्यमान् है। उस सत्ता का नाम शंकर या शिव रखा गया है। यद्यपि वह नामरूप से परे है तथापि उसका ऐसा नामकरण करने में एक विशेष अभिप्राय यह है कि सामान्य रूप से स्वतंत्र इच्छा के द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार, विद्यमान और अनुग्रह ये पांच कृत्य, प्रति समय करते रहते पर भी उसका अनुग्रहात्मक कृत्य एक ऐसा विशेष कृत्य है जिसके द्वारा वह जन्म मरण के चक्र से जीवों के सारे भेदभाव से पूर्ण अज्ञान को दूर कर उनको स्पन्दमयी शक्ति भूमिका पर आरूढ़ करने के रूप में उनका कल्याण करता है। इसी कल्याण करने वाले के रूप में शंकर या शिव कहा जाता है। वह शंकर चैतन्य रूप है। चेतन वही है जो चेतने की क्रिया करने में स्वतंत्र हो। उदाहरणार्थ "धट" चेतन नहीं है क्योंकि उसको न तो अपने और न अपने से भिन्न किसी दूसरे के होने की चेतना है। इसलिये वह अचेतन है। इसके विपरीत मनुष्य में चेतना

विद्यमान है वह अहंरूप आवेग के द्वारा स्वात्मरूप में और अपने से भिन्न रूप होने के कारण अपने स्वरूप को और अपनी ही शक्ति के प्रसार रूप विश्व को "अहं" रूप में विमर्श करने या चेतने की क्रिया का स्वतंत्र कर्ता है। अतः वह चैतन्य है। शिव का स्वभाव है कि वह स्वतंत्र ज्ञाता और स्वतंत्र कर्ता है और स्वातन्त्र्य ही उसकी मुख्य शक्ति है। यह सर्व स्वतंत्र चैतन्य सत्ता सारे विश्व की एकमात्र आत्मा है। इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिये कि जो आत्म सत्ता है वह चेतन है, अपितु चैतन्य ही आत्मा है। शिव स्वतंत्र कर्ता है। सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व गुणों से युक्त तत्व ही शिव है। ज्ञत्व और कर्तृत्व लक्षण धर्म उसके सहज रूप धर्म हैं। वह अपनी इच्छानुसार कार्य का उत्पादन करता है। "शिव में ही समस्त शक्तियां अन्तर्निहित रहती हैं। संकोच और प्रसरण धर्मीशक्तियां शिव से ही उद्‌भूत होती हैं। वह कारणों का कारण महाकारण है। परात्पर ब्रह्म ही शिव है। सर्वान्न है वह।"[39] वह कार्य कारण का कारण भी है और उनमें परे भी है। जिससे पराशक्ति उत्पन्न होती है वह शिव है। जो ज्ञान, बल, क्रिया आदि का आधार स्तम्भ है। वही शिव है वही कार्यभेद से नानारूप धारण करता है। वह आदिदेव हैं सच्चिदानन्द है, ईश्वर है। जिस प्रकार नट कठपुतली को नचाता है उसी प्रकार शिव समस्त विश्व को अपने इशारे पर नचाता है। श्रुति भी शिव को परात्पर, मायातीत रूप में वर्णित करती है। सगुण और निर्गुण वाला भी शिव ही है। माया संवलित रूप सगुण है और निरूपाधिक रूप निर्गुण है। ओम् ही शिव हैं। वही अक्षर है। पांच शक्तियों से समन्वित तत्व ही शिव है, यथा सर्वकर्तृत्वरूपा, सर्वज्ञत्वरूपिणी, पूर्णतया, नित्यत्वरूपा और व्यापकत्वरूपा ये पांच शक्तियां शिव की हैं। शिव इन शक्तियों का संकोच ओर प्रसार करता है। शिव का अर्धनारीश्वर है। यह स्त्रि पुरूष वाला विश्व उसी का रूप है। अहम् मदा का अर्थ भूतत्व है। शिव का एक रूप महेश्वर भी है। एक बीच को बहुबीज रूप में परिणत करने वाला शिव ही महेश्वर है। इस प्रकार विशेष स्वरूप सर्वत्र और सब प्रकार से सर्वदृष्टि से देखने पर एक शिव ही सब कुछ ज्ञात होता है। सर्वशिवमयम् जगत् की धारण इसी दृष्टि से पुष्ट होती है। इसी शिव को योगी लोग परात्पर रूप में दर्शन करते हैं।

शक्ति तत्व :- यह शक्ति कोई अलग तत्व नहीं है बल्कि उस शिव की ही शक्ति है जिससे यह समस्त चराचर जगत व्यक्त होता है। यह शक्ति ही शिव के चेतना का कारण है। इस शक्ति से ही शिव चतनवत् होकर विमर्श रूप से इस जगत् की सृष्टि करते है। शिव स्वतंत्र शक्ति से मुक्त है जिसके द्वारा सृष्टि, स्थिति, संहार विधान एवं अनुग्रह रूपी पंच कृत्यों को करता रहता है। ये पांचो क्रियाएं परमार्थ से लोर व्यवहार तक व्याप्त हैं। इसलिये परमार्थ सत् रिक्त या अभिव्यक्ति

रहित नहीं हैं। उसकी अनन्त शक्तियां है। उसमे भूत, भवत्, भविष्यत् सब कुछ बीज रूप में विद्यमान हैं। यदि उस परमार्थ या महेश्वर में प्रकट होने की क्षमता न होती, तो वह चित् ही नहीं कहा जा सकता था, तब तो वह जड़ पदार्थ के समान हो जाता। तन्त्रालोक में कहा गया हैं -

''अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः।
महेश्वरत्वं संवित्तवं तदत्यक्षद् धटादिवत्।।[40]

अर्थात् यदि महेश्वर एक रूप में पड़ा रह जाता, यदि वह अनन्त रूपों में प्रकट न होता, तब तो उसका महेश्वरत्व और संवित्व ही समाप्त हो जाता है और वह एक जड़-धट के समान हो जाता। यह शिव की ही शक्ति है। शक्ति ''शक्ति निषेधव्यापाररूपा'' की गयी है। शक्ति सर्वप्रथम इदं या यह या वेद्या का निषेध कर देती है। इस स्थिति को शून्याति शून्य कहते हैं। चित् या परासंवित् में अहं और इदं अभिन्न हैं। शिवतत्व में से शक्ति के व्यापार से इदं प्रत्याह्य हो जाता है, केवल अहं रह जाता है। क्षेमराज ने इस स्थिति का अनाश्रित शिव कहा है। श्री परम शिवः - पूर्व चिदैक्याख्यातिमयाना-श्रित शिवपर्याय - शून्यातिशून्यात्मतया प्रकाशाभेदेन प्रकाशमानतया स्फुरति। इस अवस्था में शिव इदं से रहित केवल अहं के रूप में रहता है। शिव विश्व रूप में भासित हो, इसके लिये ''अहसिफ'' के एकात्म अनुभव में एक व्यवधान आवश्यक हो जाता है। परन्तु यह एक अवस्था है। वेदक से वेद्य अलग होकर पुनः अहंमिदम् - एकात्मरूप में प्रकट न होकर अहं इदं रूप में प्रकट होता है जिसमें अहम् और इदम् विविक्त तो हैं, किन्तु विच्छेय नहीं हैं, क्योकि वे एक ही आत्मा के अंग है। यह शक्ति चित् को अहं और इदम् में, वेदक और वेद्य में अभिस्पन्दिती कर देती है। इस प्रकार शक्ति शिव से भिन्न न होकर, वह शिव की सर्जनान्मुखता मात्र है। वह शिव का अहं विमर्श है। महेश्वरानन्द ने कहा है-

स एव विश्वमेषितुं ज्ञातु चोन्मुखो भवन्।[41]
शक्ति स्वभावः कथितो हृदय त्रिकोण मधुमांसलोल्लासः।।

अर्थात् वह शिव ही अपने हृदय के इच्छा ज्ञान क्रिया रूपी त्रिकोण के माधुर्य से परिवर्धित उल्लास द्वारा अपने में ही स्थित विश्व को ईक्षण करने के लिये उन्मुख होने पर शक्ति स्वभाव वाला कहलाता है। महेश्वरानन्द ने इसकी व्याख्या करते हुये कहा है कि जब शिव अपने हृदय में बीज रूप में विद्यमान् अर्थतत्व के बाहर करने के लिये उन्मुख होता है तब वह शक्ति कहलाता है। शक्ति चित् की क्रियाशीलता या गतिशीलता है। इस विमर्श या उन्मुखता के समान विचार छान्दोग्योपनिषद् के निम्नलिखित वाक्य में पाया जाता है -

सदेव सौम्य इदमदग्र आसीदेकमेवाद्वितीमंम्[42]
तदैक्षत बहु स्याम्, प्रजोयेय इति।

अर्थात् पहले एक, अद्वितीय के बिना सत् ही था। उसने इक्षण किया, बहु को जाउं, प्रजनन करूं। यह इक्षितृत्व विमर्श या उन्मुखता के सदृश ही है। शैव दर्शन में परमशिव को एक शुष्क तार्किक के रूप में न मानकर एक कलाकार के रूप में देखा गया है। जिस प्रकार एक कलाकार अपने आनन्द को अपने भीतर ही न रखकर अपनी कृतियों के माध्यम से उसे व्यक्त करता है, उसे गान, चित्र या कविता में उड़ेल देता है, इसी प्रकार सर्वोच्च कलाकार शिव अपने वैभव के आनन्दपूर्ण चमत्कार को सृष्टि में उड़ेल देता है। क्षेयराज ने उत्पल्देव की स्तोत्रावली की व्याख्या में इसी प्रकार को निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है -

"आनन्दोच्छ शक्तिः सृजत्यात्मानमात्मना"[43]

अर्थात् शक्ति आनन्द से उच्छलित होकर अपने को अपने ही द्वारा सृष्टि के रूप में प्रकट करती है। समस्त सृष्टि शिव की सृष्टि कल्पना की बाध्याभिव्यक्ति है। शक्ति तत्व में महेश्वर के आनन्द की प्रधानता होती है। शिव इक्षिता के रूप में और शक्ति आनन्द के रूप में संयुक्त रहते हैं। वस्तुतः शिव शक्ति तत्व आभाष नहीं है, बल्कि सभी आभासों का बीज है। यह शक्ति जिसे सदैव ही शिव से मुक्त बताया गया है, उसकी निरपेक्षता, निर्बाध प्रभुता या स्वतंत्र्य एक अन्ध शक्ति नहीं है बल्कि यह चित् का स्वभाव है। यह स्वतंत्रता ही महेश्वर की कल्पना का वेद्यरूपेण उपस्थापन करता है। यह शक्ति स्वतंत्र इसलिये कहलातीं है, क्योंकि वह अपने से बाह्य किसी उपादान में समर्थ है। यह देश, काल कारण इत्यादि से परे है, क्योंकि इनकी अपनी सत्ता उसी के द्वारा है। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इसकी व्याख्या निम्नलिखित रूप में की गयी है-

"चितिः प्रत्यमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता[44]
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यम् तदैश्वर्य परमात्मनः

अर्थात् महेश्वर की शक्ति चिति कहलाती है। इसका स्वरूप स्वसंवित्ति है। इसे परावाक् भी कहते है। यह स्वयं नियोदित है। यही स्वातन्त्र्य है। यह परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य है। परावाक्, विमर्श, ऐश्वर्य इत्यादि स्वतन्त्र्य के पर्यायवाची शब्द हैं। यह वह स्फुरता है जो अपने में विकार हीन होते हुये सब विकारों की जननी है। यह महासत्ता है क्योंकि वह सब कुछ होने में स्वतंत्र है। यह देश और कल से परे परमशिव का हृदय स्वरूप है। स्वातन्त्र्य या माहेश्वर्य का भाव है

बिना बाह्य उपादान के, बिना किसी बाधा के अपने आप सब कुछ कर डालने का सामर्थ्य। अर्थात् यह पूर्ण स्वतंत्रता किसी सीमा में न होकर असीमित स्वतंत्रता है, जिस अर्थ की इच्छा हो गयी वह सब कुछ हो जाने की स्वतंत्रता है। इस प्रकार यह विधि स्वतंत्रता है, जो शिव की चित्त रूपी शक्ति के कारण उसमें विद्यमान रहती है। "सतंत्रयं च नाम यथेच्छं तत्रेच्छा प्रसरस्य अविद्यातः" स्वातंत्र्य का भाव है अपनी इच्छानुसार, उस इच्छा के प्रसर में बिना किसी रूकावट के सब कुछ कर डालने का सामर्थ्य। इस स्वातन्त्र्यवाद की व्याख्या अभिनव गुप्त ने इस प्रकार की है -

तस्मादनपहवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान्।
स्वातन्त्र्यादेव रूद्रादिस्यावरान्त प्रभातृरूपतया नील सुखादि प्रमेयरूपतया न।।

अनतिरिक्तयापि अतिरिक्तया इव स्वरूपानाच्छादिकयासंविद्रूपनान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाश अयं स्वातन्त्रयवादः प्रोन्मीलितः। अर्थात् "इस प्रकार प्रकाश विमर्श स्वरूप सेविद्रूपी परमशिव जिसका कभी भी अपलाप नहीं किया जा सकता, जो सदा उदित है अपने स्वातंत्र्य के महात्म्य से ही जो कि संवित् से पृथक नहीं है रूद्र से लेकर स्थावर तक प्रमाता के रूप में और सुख इत्यादि प्रमेय के रूप प्रकट होता है। ये प्रमाता ओर प्रमेय उससे अभिन्न होते हुये भी भिन्न की भांति भासित होते हैं, किन्तु ये उसके स्वरूप को कभी ढक नहीं सकते। इस प्रकार स्वातन्त्र्यवाद को प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार सर्जन की दृष्टि से यह दर्शन स्वातन्त्र्यवाद कहलाता है, उसी प्रकार उसकी अभिव्यक्ति या आविर्भाव की दृष्टि से यह आभासवाद कहलाता है। जिस प्रकार मयूर के रंग-विरंगे पंख उसके अण्डे के रस में अविभिन्न रूप में निहित होता है, वैसे ही समस्त व्रिव महेवर में अविभिन्न रूप में विद्यमान रहता है। इस सादृप्य को प्रत्यभिज्ञा दर्शन में मयूराण्डरसन्याय कहते हैं।

समस्त विश्व का अधिष्ठान चित् या संवित् है। चित्त् है। चित्त विचित्त, सदापरिवर्तनशील अभ्यास ही चित् के आविर्भाव मात्र हैं। जो कुछ भी किसी भी रूप में प्रकट है, चाहे प्रमेय के रूप में, चाहे प्रमाता के रूप में चाहे ज्ञान के रूप में, चाहे ज्ञान के साधन के रूप में, वह सब कुछ उसी चित् शक्ति का "आभास" मात्र है। आभास का अर्थ है "आ" अर्थात् संकुचित रूप में" "भासः" कुछ संकुचित रूप में भासन या प्रकाशन" आभास कहलाता है। सभी प्रकार का आविर्भावपरिसीमित होता है। जो कुछ भी विद्यमान है, वह आभासों का विन्यास मात्र है। दर्पण प्रतिबिम्ब के रूप में इसी आभास को स्पष्ट करते हुये परमार्थ सार में कहा गया है-

दर्पण बिम्बे यद्वनूनगरग्रामादिचित्रमविभगि।
भाति विभागेनेवच परस्परं दर्पणादपिच।।

विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वत् विभाग शून्यमपि।
अन्योन्धं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत्।।

अर्थात् जैसे स्वच्छ दर्पण में चित्त विचित्र नगर, ग्राम इत्यादि के प्रतिबिम्ब दर्पण से अभिन्न होते हुये भी, परस्पर और दर्पण से भी भासित होते हैं, वैसे ही यह जगत् परमशिव के विमल संवित् से अभिन्न होते हुये भी परस्पर और उस संवित् से भी भिन्न भासित होता है। आभास दर्पण में प्रतिबिम्बित आकारों के समान हैं। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब उससे भिन्न नहीं किन्तु भिन्न भासित होता है, इसी प्रकार आभास भी शिव से भिन्न नहीं है किन्तु भिन्न भासित होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बत नगर, ग्राम आदि यद्यपि दर्पण से अभिन्न है तथापि उससे भिन्न भासित होते है, उसी प्रकार महेश्वर के संवित में प्रतिबिम्बित जगत् उससे भिन्न होती है। इस उपमा में दो अपवाद मान्य है। जगत् उससे भिन्न नहीं है। इस उपमा में दो अपवाद मान्य हैं।

1. दर्पण में एक बाह्य प्रकाश के द्वारा ही प्रतिविम्ब सम्भव है, जब कि महेश्वर की सर्वभौम चेतना स्वयं अपना प्रकाश है, वह सब प्रकाशों का प्रकाश है, उसे किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है।

2. दर्पण अचेतन है। उसे अपने भीतर के प्रतिबिम्बों का बोध नहीं है, किन्तु महेश्वर तो चेतन है। उसकी चेतना में जो प्रतिबिम्बित् कल्पनायें प्रकट होती है उनका उसको पूरा बोध रहता है। आभास जो कि पशु या परिच्छिन्न जीवों को बाह्य रूप में प्रतीत होते है परम चेतना की कल्पनाओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। परमार्थ सार में कहा गया है-

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनी यद्वद् विचित्ररचना मुकुरान्त्रराले।
बोधः पुनर्निजविमिर्शनसार युक्त्या विश्वं परामृशति नौ मुकुरस्तथातु।।

अर्थात् जैसे चित्र विचित्र पदार्थ के भीतर प्रकट होते हैं, वैसे ही परम संवित् में जगत् प्रकट होता है। किन्तु परम संवित् को विमर्श शक्ति के द्वारा उसका बोध रहता है, दर्पण में उस प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थ का बोध नहीं रहता। चेतना में तरंग के समान आभास उठते हैं। जैसे तरंगो के उत्थान और पतन से, समुद्र को न तो कोई लाभ है, न हानि, वैसे ही आभासों के उत्थान और पतन से परम चेतना को न कोई लाभ है, न हानि। आभास प्रकट और लीन होती रहते हैं, किन्तु उनकी अधिष्ठान रूपी चेतना में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। यह आभास महेश्वर की कल्पनाओं का बाह्य प्रक्षेप मात्र है। इसे ईश्वप्रत्याभिज्ञा में इस प्रकार कहा गया है -

चिदात्मैवहिदेवांडन्तः स्थितमिच्छाववशाद्वहिः ।
योगीव निरूपादानमर्यजातं प्रकाशयेत् ।।[46]

अर्थात् चित् स्वरूप देव अन्तः स्थित पदार्थ समूह को अपनी इच्छा द्वारा बाहर प्रकाशित करता है। जैसे योगी संकल्प द्वारा कोई वस्तु बाहर आभासित कर देता है। महेश्वर कुम्हार की भाँति बर्तन की भाँति सृष्टि नहीं करता। सृष्टि का केवल अर्थ है अन्तः स्थित कल्पनाओं को बाहर आभासित कर देना। महेश्वर को इसके लिये किसी बाह्य उपादान की आवश्यकता नहीं है, बल्कि वह अपनी इच्छा शक्ति द्वारा ही ऐसा करने में समर्थ है। जो पदार्थ महेश्वर के ज्ञान स्वरूप है वे उसकी इच्छा से ज्ञेय के रूप में प्रकट होते हैं, जो उसके अहं स्वरूप है वे इदं या विश्व के रूप में प्रकट होते हैं। जीवों को वे बाह्य रूप में आभासित होते हैं। जीवों को इस परिमित अनुभव का कारण माया है, जो अज्ञान का आवरण डालकर सीमित कर देती है। माया एवं उसके पांच कंचुक ही इस जीव के सीमित ज्ञान के कारण हैं। कश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्वों में प्रथम पांच तत्व (शिवतत्व, शक्तितत्त्व, सदाशिव तत्व, ईश्वरतत्व तथा शुद्ध विद्या तत्व) अपरिमित अनुभव के तत्व हैं, तथा माया से लेकर पृथ्वी तक 31 तत्व परिमित अनुभव के तत्व हैं जिसमें माया एवं उसके पांच कंचुक छः तत्व हैं। यहां से माया तत्व का कार्य प्रारम्भ होता है। जिसमें महेश्वर का स्वरूप गोपन होता है। यह गोपन माया एवं उसके कंचुको द्वारा होता है। माया शब्द "मा" धातु से निश्पन्न है, जिसका अर्थ होता है मापना, मापकर पृथक् कर देना परिमित कर देना। जो अनुभव को परिमित बना देती है, अहम् को इदम् को अहम् से पृथक कर देती है, भेद उत्पन्न कर देती है, वह माया है। माया के प्रभाव से ही "इद" का अर्थ होता है "केवल यह" अन्य सब वस्तुओं से भिन्न एक परिमित वस्तु। यहीं माया के द्वारा पूर्ण संकोच या परिमितत्व प्रारम्भ होता है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है और भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है। माया के पांचो कंचुक उसके परिणाम हैं, जो इस प्रकार है -

1. **कला** :- परमेश्वर का स्वरूप गोपित होने पर, अणु बनने पर, जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किंचित्कर्तृत्व में परिणत हो जाता उसे "काल" कहते हैं।

2. **विद्या** :- जिसके द्वारा परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किंचित्ज्ञत्व में परिणय हो जाता है उसे "विद्या" कहते हैं।

3. **राग** :- जिसके द्वारा परमेश्वर की पूर्णतृप्ति संकुचित होकर किंचित् भोंगों में आसक्त हो जाती है उसे "राग" कहते है।

4. **काल** :- जिसके द्वारा परमेश्वर का नित्यत्व संकुचित होकर अतीत, वर्तमान और अनागत में परिसीमित हो जाता है, उसे काल कहते हैं।

5. **नियति** :- जिसके द्वारा परमेश्वर का स्वातंत्र्य संकुचित होकर विशिष्ट कार्य के लिये विशिष्ट कारण का नियम धारण करता है और उसका व्यापकत्व संकुचित होकर किसी विशिष्ट देश में परिच्छिन्न हो जाता है उसे नियति कहते हैं।

14-16 तक बुद्;, अहंकार और मनस्। प्रकृति के विशेष हैं - अन्तःकरण, इन्द्रिय और भूत। अन्तः करण का अर्थ है आन्तरिक साधन, जिसमें बुद्; अहंकार और ''मानस् अंतर्भूत हैं। 17-31 तक प्रत्यक्ष करने के तत्व हैं - पांच कर्मेन्द्रिय और पंच तंन्मात्रायें। ये तीनों ही अहंकार के परिणाम हैं। इन पंच तंमात्राओं के परिणाम हैं - पंचमहाभूत जो 32-36 तक हैं। ये ही 36 तत्व कश्मीर शैव दर्शन में स्वीकार किये गये हैं। शक्ति जो शिव का क्रियात्मक बल हैं, जो शिव से अभिन्न है, उसी के द्वारा शिव पंचकृत्यों को करते रहते हैं। इसी शक्ति से जीवों के कल्याण के लिये (साधक के कल्याण के लिय) शिव के अनुग्रह से शक्तिपात के द्वारा साधक में आध्यात्मिक बल का उन्मेश होता है। शक्तिपात का अर्थ है शक्ति का किसी पर गिरना और यह तभी सम्भव होता है जब साधक को शिव का अनुग्रह प्राप्त होता हैं।

शक्ति के विभिन्न रूप के कारण ही जगत् की क्रियाये सम्भव हो पाती हैं, जिसका आदि कारण पराशक्ति ही है। यह सर्वोच्च शक्ति है, मुख्य शक्ति है। इसको परा इस लिये कहते हैं क्योंकि इसकी सहकारी शक्तियां या गौण शक्तियां जगत् में व्याप्त होकर भिन्न-भिन्न कार्य सम्पन्न करती हैं। शक्ति का अर्थ है शिव की चेतना या शिव की चेतना का स्पन्द जो कि शिव से अभिन्न है। शिव की ही अन्तः स्थित अर्थतत्व को बाहर प्रकट करने की उन्मुखता और क्रियाशील अनुग्रह को शक्ति कहते हैं। शक्ति के कारण ही शिव में सामरस्य का भाव रहता है। चित्शक्ति ही स्वतंत्र रूप से अर्थात् बिना किसी अन्य की अपेक्षा किये हुये पर प्रमाता परमशिव से विश्व की सृष्टि द्वारा पृथकत्व जैसी अवस्था निश्पन्न करती है, उस अवस्था को कुछ काल तक स्थित रखती है और फिर संहार कर लेती है अर्थात् विश्व को समेट कर उसी अद्वैत परमशिव में समरस अर्थात् एक रूप कर देती है।

शक्ति के संकोच से जीव परिच्छिन्न हो जाता है तो वह बन्धन में पड़ जाता है। जहां एक तरफ शिव में सर्वकर्तृत्व पाया जाता है वहीं संकोच के परिणाम स्वरूप जीव में किंचित्कर्तत्व विद्यमान होता है। जहां शिव में सर्वज्ञत्व पाया जाता है वही शक्ति संकोच से जीव अल्पज्ञ हो जाता है तथा वह अज्ञान के निविड़

अन्धकार में भटक जाता है। शिव पूर्णत्व या नित्य तृप्ति रूप है, जबकि जीव में राग के कारण जगत् की वस्तुओं के प्रति आसक्ति हो जाती है, जिससे कर्म का सृजन और उसके फल प्राप्ति के कारण जीवन चक्र चलता रहता है। शिव में नित्यत्व पाया जाता है जबकि जीव काल या अनित्यत्व के अधीन होता है। शिव में व्यापकता का समावेश है जिसे स्वातंत्र्य भी कहते हैं जो पूर्ण स्पातन्त्र्य के रूप में कुछ भी कर डालने की समर्थ्य का द्योतक है, जबकि जीव को देश और काल का बन्धन होता है जिसके कारण उसको सीमित स्वतंत्रता प्राप्त होती है। तथा शिवाश्रित होता है। जब तब शिव का शक्तिपात नहीं होता या अनुग्रह नहीं प्राप्त होता है तब तक वह इस संसार चक्र में जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है। यह शक्ति शंकर की वह निजी अभिन्न शक्ति है जिसका नाम स्वातन्त्र्यशक्ति है। यह शिव से इसलिये अभिन्न है कि शिव एवं शक्ति एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते है ये दोनों अग्नि और दाहक शक्ति की भांति एक ही सत्ता के सूचक हैं। स्पन्दकारिका में इस शक्ति का वर्णन करते हुये कहा गया है -

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यानादिमान्।
सा शक्तिर्मिद्यते देवि। भेदैरानन्त्य सम्भवैः।।

अर्थात् इस शक्ति का स्वरूप "पूर्ण अहं विमर्श" है। यह अहं ही वह मौलिक स्फुरण है जिससे वह एक ही शक्ति अनन्त रूपों में स्फुटित होकर विश्व के अनन्त और विचित्र रूपों में अवभासमान है। शाश्वत रूप में स्फुरणशील होने के कारण ही उसको "स्पन्दशक्ति कहा जाता है। स्पन्द शब्द का अर्थ सूक्ष्म अहं विमर्शात्मक स्फुरणा है। साधारण अर्थ में "स्फुरणा" या "स्पन्द" शब्द से कम्पन या सिहरन का अर्थ लिया जाता है परन्तु यह अहं विमर्शात्मक स्पन्द वैसा स्थूल अथवा आँधी आदि के कारण हिलाये गये वृक्ष इत्यादि का कम्प जैसा नहीं समझना चाहिये, अपितु इसका स्वरूप चिद्धन भगवान् की बाह्य विश्वात्मक रूप में स्वतंत्र शक्ति प्रसार की ओर संकल्पात्मक उन्मुखता मात्र ही समझना चाहिये। इस संकल्परूपी उन्मुखता को सूत्रकार ने "उन्मेष-निमेष" शब्द से अभिव्यक्त किया है। यहां पर "उन्मेष-निमेष" का अर्थ उन्मेष और निमेष नहीं है, अपितु विज्ञानरूप अनुत्तरतत्व की वह एक ही संकल्पात्मक गतिमयता, जिसका स्वरूप मात्र "अहं प्रत्यवमर्श" ही है। शक्ति का रूप सदा उदित है अतः उसका न तो कभी उन्मेश या उदय का विकास अथवा अस्त या संकोच या निष्क्रियता ही होती है। वास्तव में स्पन्दशक्ति का स्वरूप ही उच्छलनात्मक है। इसका भाव यह है कि वह युगपत् ही स्वरूप का विकास और संकोच करती है। फलतः यह शक्ति क्रियाशीलता युगपत् ही द्विमुखी अर्थात् अन्तर्मुखीन और बहिर्मुखीन भी है। परन्तु यह सारी क्रियात्मकता

संकल्पात्मक ही है। इस प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कहा गया है - "सैषा सरतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः"[48]

अर्थात् निःसंदेह शंकरात्मक बोधगगन, मात्र अनुत्तर तत्व है परन्तु उसका भी सारभूत हृदय विमर्शरूपा "स्पन्दशक्ति" ही है। शक्तियुक्त होने के कारण ही उसमें विश्वोत्रीर्णता अर्थात क्रिया प्रधान विमर्श रूपत, मयूराण्ड में वर्तमान द्रव पदार्थ के ही रूप में अवस्थित आगामी शावक के विचित्र रंगो वाले परों की कल्पना के समान, अभेद "अहं" रूप में ही अवस्थित है। प्रकाश भाग और विमर्श भाग में से क्रियाप्रधान विमर्श भाग ही सामान्य स्पन्द है। उसी के द्वारा अन्तर्मुख "अहं" में अभिन्न रूप में अवस्थित, विश्व कल्पना का बहिर्मुख "इदं" रूप मे अवभासन और "इदं" रूप में अवभासित विश्व की अन्तर्मुख अनुसंधानान्तक "अहं" रूपता में विश्रान्ति की क्रिया सम्पन्न होती है। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी में कहा गया हैं- "विमर्शोहि सर्वसहः परमपि आत्मी करोति, आत्मानंपरी करोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयग्रपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः।।[49] अर्थात् विमर्श में जिस वस्तु का भाव हो उसी का बाह्य अवभासन भी सम्भव हो सकता है। जिस पदार्थ का बाहह्य रूप में अवभासन हुआ हो उसी का अन्तर्मुखता में विश्राम सम्भव हो सकता है। फलतः विमर्शात्मक स्पन्द शक्ति का ही ऐसा स्वातन्त्र्य एवं असीम सामर्थ्य है कि वह अवभासित पदार्थ को अपने रूप में लय कर सकती है, अपने आपको भावमण्डल के रूप में अवभासित कर सकती है, दोनों को एकाकार बनाकर धारण कर सकती है और दोनों से पृथक रूप में भी अवस्थित रह सकती है। यह स्पन्द शक्ति एक महानू सत्ता है जिसके बिना प्रकाश की कल्पना व्यर्थ है क्योंकि विपर्शहीन प्रकाश विम्बग्रा ही होने पर जड़ ही होता है।

इसके पर्व में स्पन्दशक्ति का स्वभाव किंचिच्चलन बताया गया है। उसका अर्थ बताते हुये कहते हैं -

"किच्चिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्।
उर्मिरषा विबोधाब्धेर्न संविदनया बिना"।।[50]

किच्चिचलन शब्द का अर्थ स्वतन्त्र रूप में स्फुरित होनकरती है। संवित् कभी भी स्फुरणा के बिना नहीं रह सकती है क्योंकि वह फिर चिद्रूप ही नहीं हो सकती है। यदि ऐसा होता तो फिर चिद्रूपता के अभाव में सारे विश्व में जड़ कंकर पत्थरों के सिवा अन्य किसी जीवित सत्ता का अस्तित्व के समान ही होती। इस प्रकार संवित् ही समय प्रमाता और प्रमेय दोनों रूपों में सतत् स्फुरणामयी है। स्पन्द संवित् समुद्र की तरंग है। इससे स्पष्ट है कि स्पन्द तथा संवित् एक ही अभिन्न

ज्ञानक्रियामयी सत्ता है। संवित् का संवितत्व यही है कि वह विमर्शमयी अथवा सततस्पन्दमयी होने के कारण प्रत्येक पदार्थ का स्वतंत्र "अहं" रूप में विमर्श कर सकती है। तन्त्रसार में इसका वर्णन करते हुये कहा गया है -

एष प्रकाशरूप आत्मा स्वच्छन्दो ढौकयति निजरूपम्।[51]
पुनः प्रकटयति झटित अथ क्रमवशादेश परमार्थेत शिवरसम्।।

अर्थात् संवित् रूप विश्वात्मा, अपने इसी स्पन्दमय स्वातन्त्रय से अपने स्वरूप को छिपाकर और विद्युत गति से प्रकट करके, अक्रम में क्रम का और क्रम में अक्रम का अवभासन करने की क्रीड़ा करता रहता है। वास्तव में यही आनन्दात्मक स्वातन्त्र्य शक्ति का अलौकिक चमत्कार है। यह स्पन्द शक्ति ही विश्व के प्रत्येक दृश्ययान अथवा अदृश्ययान् पदार्थ को प्रदान करती है। यहां तक कि प्रत्यक्ष में जिस वस्तु का अभाव होता है उसको भी कल्पना द्वारा स्थिति प्रदान करती है। इसके अरिरिक्त देश, काल और आकार की सीमाओं को जन्म देती है, परन्तु स्वयं नित्य एवं व्यापक होने के कारण उनसे ससीम नहीं बन जाती है। यही कारण है कि जैसा तन्त्रलोक में कहा है -

अत एषा स्थिता संविदन्तर्बाहोभयात्मना।[52]
स्वयं निर्मास्य तन्त्रान्यद्भासयन्तीव भासते।।

अर्थात् संसार में जितनी भी प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमाणों की कल्पनायें है अथवा अन्तरङ्गरूप या बहिरङ्ग रूप में जो भी कुछ है, उन सारे रूपों में यह शक्ति अपने आपको अवभासित करता है और उनसे पृथक रूप में भी प्रकाशमान् रहती है। स्पनदशक्ति की अनन्तना का वर्णन करते हुये शिव सूत्र विमर्शिनी में कहा गया है -

"शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः"[53]

अर्थात् यह शक्ति एक होते हुये भी प्रसार की भूमिका पर यह अनन्त धाराओं में प्रवाहमान है। विश्व के जितने भी पदार्थ हैं वे सारे शक्ति के ही रूप हैं। पतिदशा में वह चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान ओर क्रिया इन पांच मुख्य एवं असंकुचित रूपों में सतत् विकासशील होती हुई, पशुदशा में प्राण, अन्तःकरण, ब्राहय इन्द्रियां इत्यादि अनन्त प्रमेयों के रूपों में प्रवाहमान है।

तन्त्रसार में कहा गया है - "तस्य च स्वातन्त्र्यम् आनन्दशक्तिः, तच्चमत्कार इच्छाक्तिः, प्रकाशरूपताविच्छक्तिः आमर्शात्मताज्ञानशक्तिः, सर्वाकारयोगित्वं

क्रियाशक्तिः''[54] अर्थात् प्रतिप्रमाता की अभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति ही उसकी आनन्दधनता, आनन्द का चमत्कार ही इच्छाशक्ति, प्रकाश रूपता ही चित्-शक्ति, विमर्शमयता ही ज्ञान् शक्ति और प्रत्येक प्रकार के आकार इत्यादि को अवभासित करने का सामर्थ्य ही क्रियाशक्ति है। इससे सपष्ट है कि वह सारा दृष्ययान् प्रपञ्च मौलिक स्वातन्त्र्य शक्ति का ही विकास है। ऐसे अनन्त रूपों में होते भी यह स्वातन्त्र्य शक्ति मुख्यतः इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन रूपों में शाश्वत् रूप में स्फुरित रहती है। पशु भाव में भी शक्ति का यही इच्छात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक रूप प्रतिपल कार्यनिरत रहता है। कोई प्राणी जिस को चाहता है वह वस्तु उसकी अन्तः चेतना में पहले ही अभिन्न रूप में अवस्थित होती है। इसके बाद ज्ञान के द्वारा उसको जानकर, क्रिया के द्वारा कार्यरूप में परिणत करता है। इसी प्रकार पति दशा में विश्वकल्पना, पहले इच्छा शक्ति में अभिन्न रूप में अवस्थित रहती है। इसके बाद ज्ञान शक्ति के द्वारा उसका विमर्श होकर क्रिया शक्ति के द्वारा बाह्य अवभासन सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार एक ही शक्ति अपने स्वातन्त्र्य से इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया का व्यवदेश मात्र धारण करती है। ये व्यवदेश उनमेश में मायाशक्ति के सामर्थ्य से ही उत्पन्न हो जाते हैं। शिवदशा के अतिरिक्त अन्य सभी दशाओं में मायाशक्ति का ही साम्राज्य होता है। इदं भाव को अवभासित करने की ओर उन्मुख बनी हुई स्वातन्त्र्यशक्ति ही ''माया शक्ति'' कहलाती है। शक्ति की इस अवस्था में भेद कल्पना तो भरी होती है, परन्तु उसका विभाग नहीं हुआ होता है। यह स्थिति उसी प्रकार की होती है, ''जिस प्रकार सेम की फली की गर्भ में आगमी अनन्त फलियां की कल्पना अविभक्त रूप में अवस्थित रहती है।''[55] इसी प्रकार यह समस्त विश्व इसी स्पन्दशक्ति का बहिर्मुखीन प्रकाश अथवा विकास है। स्पन्दशक्ति के प्रसाद के सामान्य और विशेष दो रूप हैं। सामान्य रूप अनेकाकारता में एकाकारता और विशेषरूप एकाकारता में अनेकाकारता है। इसका सामान्य रूप विश्वात्मक सूक्ष्म चेतना है जो कि विश्व के अनेक रूपों में भी एक ही सामान्य रूप में व्याप्त है। दूसरी ओर विशेष रूप विश्व के अनेक एवं विचित्र प्रमेय पदार्थों का रूप है और इस रूप में भेद की ही प्रधानता होने के कारण यह वस्तुतः एक होते हुये भी विशेष रूपों में प्रवाहमान है। स्पन्दकारिका में उन्मेश-निमेश पर प्रकाश डालते हुये पहले कहा गया है कि -उन्मेश-निमेश मात्र संकल्पाकता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस संकलपरूपी गतिशीलता को शैव शास्त्रें में कभी अलग नहीं होता है। स्पन्द कारिका के प्रथभ सूत्र, में कहा गया है -

यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।[56]
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकर स्तुमः ।।

इस सूत्र में एक ही इच्छा शक्ति को व्यक्त करने के लिये उन्मेश-निमेश इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है जो मात्र औपचारिक है। सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह बात समझ में आती है कि उन्मेष अथवा निमेष दोनों संकल्प मात्र के ही द्योतक हैं। उन्मेष उस अवस्था का द्योतक है जबकि परमेश्वर संकल्प में विशुद्ध चिन्मात्र रूप में अवस्थित रहने की ओर उन्मुखता होती है। इस अवस्था में सारा "इदं भाव" अथवा प्रमेय भाव मात्र "अहं" रूप प्रमातृ भाव में ही लीन हुआ है। इसी को परमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात कहते हैं। निमेष उस अवस्था का द्योतक है जब पारमेश्वर संकलप में, स्वरूप को संसार के अनन्त भेदपूर्ण वैचियो में प्रसारित करने की ओर उन्मुखता होती है। इस अवस्था में चिन्मात्र रूप प्रमातृ भाव में, अभिन्न रूप में वर्तमान प्रमेयता, पूर्वोक्त मायाशक्ति के प्रभाव से अलग होकर विकास में आ जाती है। इसको शैव शब्दों में विरोधान कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि दोनों रूपों में पारमेश्वर संकल्प मात्र की ही गतिमयता अर्थात् इच्छा शक्ति ही कार्यनिरत है। इन्हीं दो रूपों को क्रमशः अन्तर्मुखस्पन्द और बहिर्मुखस्पन्द कहते हैं। स्पन्द शक्ति की यह द्विमुखी गतिमयता एक हीं समय पर चलती रहती है। दोनों ही रूपों में स्वतंत्र ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में कोई उतार या चढ़ाव उत्पन्न नहीं होता है। प्रलय और उदय जगत् को ही हो सकते हैं, संवित् को नहीं, क्योंकि उन्मेष अवस्था में स्वरूप से अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार के प्रमेय जाल का अस्तित्व न होने के कारण जगत् का प्रलय अर्थात् पूर्णतया स्वरूप में ही लय और मिष अवस्था में प्रमेयता का स्वरूप से अलग अस्तित्व होने के कारण जगत् का उदय हो जाता है। दोनों ही रूपों मे संवित् शक्ति अक्षुण्य रहती हैं।

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति विश्वरूप में प्रस्तुत होने की ओर उन्मुख होने के समय, सर्वप्रथम इच्छा का रूप धारण करती है। वह इच्छा शक्ति उत्तरोत्तर प्रसृत होती हुई ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के रूप में प्रसृत होती है। यह दोनों शक्तियों के ज्ञान और क्रिया ऐश्वर्यपूर्ण होने के कारण उत्तरोत्तर विकास में आने वाली, प्रमेयता की उपाधियों के आवश्यकतानुसार, अनन्त शक्ति धारायें फूट पड़ती हैं, जिसके फलस्वरूप शिवतत्व से लेकर पृथ्वी तत्व तक का सारा विश्ववैचित्र्य विकसित हो जाता है। ज्ञान शक्ति वर्ण, पद एवं मंत्र इन तीन भागों के रूप में और क्रियाशक्ति कला, तत्व और भुवन इन तीन भागों के रूप में प्रसृत होकर बाह्य विश्व का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार पहले तीन रूपों में सारे वाचक विश्व का और दूसरे तीन रूपों में सारे वाच्च विश्व का विकास हो जाता है।

इसवाचक और वाच्चमय विश्व का सर्वतोमुखी विकास कार्य सम्पन्न करने के लिये उसी परमेश्वरी शक्ति की धाराये कहीं मातृका का रूप धारण करके "अ"

से "क्ष" तक आठ वर्गो की अधिष्ठात्रियां बनी हुई माहेश्वरी, ब्राह्मणी, कौमारी, ऐन्द्रीयाम्या, चामुण्डा और योगीशी शक्तियों के रूप में, कहीं में, कीं अन्तः करणों और बहिःकरणों के साथ संबंध रखने वाली, खेचरी, भूचरी, दिक्चरी और गोचरी शक्तियों के रूप में, कहीं प्राण, बुद्धि, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रियां अथवा सारे महाभूतों के रूप में प्रसृत होती रहती है। इसका तात्पर्य यह है कि विश्व में ब्रह्म से लेकर तिनके तक जिनती भी असंख्य प्रमेय पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय बन जाते हैं वे सारे परमेश्वर की अनन्त शक्तियों के श्रोत हैं। इसी अनन्त शक्ति धाराओं का नाम "शक्तिचक्र" है। यह शक्तिचक्र विभव से परिपूर्ण है और ऐश्वर्य किसी वस्तु के करने, न करने या अन्यथा करने की स्वातन्त्रयपूर्ण इच्छा का द्योतक है। इसका अभिप्राय यह है कि शक्ति, शक्ति होने के कारण नित्य उदीयमान और शाश्वत रूप में पूर्ण अभेद अहं विमर्श की स्फुरणा के स्वभाव वाली है और इसकी स्वतंत्र स्फुरणा के प्रवाह में कोई भी वस्तु बाधा नहीं डाल सकती है। श्री विज्ञान भैरव में सवित् शक्ति में परिपूर्ण शक्तिमान के स्वरूप का सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है- "अपरिमित और कल्पनातीत अनेकाकारता से भी एकाकारता के मधुरतम रस से परिपूर्ण, स्वरूप के आधार पर विश्व के चित्र की रचना करने पर भी स्वयं निर्मलरूप को धारण करने वाली और विश्व का अवभासन करने के लिये अनन्तशक्ति स्त्रोतो में प्रवाहमान होने के कारण परिपूर्ण शक्ति के साथ संघट्टमयी अवस्था ही शक्तिमान् की परिपूर्ण अवस्था है। यह ऐसा दिव्य रूप है जो पूर्ण अहं-स्फुरणामय होने के कारण केवल आनन्द स्वरूप, दिशा, काल एवं आकार के संकोचों से रहित, दूरी या नजदीकी प्राचीरों से बाहर, मध्यमा और वैखरी वाणियों के अभिलाप का अविषय होने के कारण वास्तव में अवर्णनीय और केवल आन्तरिक अनुभव मात्र से ही गम्य है। प्रत्येक प्रकार की शंकाओं के आतंक और विकल्प जालों से रहित होने के कारण इसको "भैरवी-अवस्था" कहते हैं। यही अवस्था भैरव रूप शंकर का स्वभाव अथवा वास्तविक स्वरूप है क्योंकि इसमें विश्वोत्तीर्ण और विश्वरूपता दोनों एकाकार बनकर अवस्थित है।" अंशतः शक्तिमान होने के कारण प्रत्येक जीव अंशतः शिव है। अपनी ही शक्ति के वास्तविक स्वरूप की अनुभूति प्राप्त करने से जीव शिव बन जाता है। शक्ति भूमिका पर आरूढ़ होना ही शिव भाव में प्रविष्ट होने का मुख्य द्वार है। स्पन्द निर्णय में कहा गया है -

देहाद्याविष्टोडपि परमेश्वरः करणोन्मीलन निमिलनाभ्यां[57]
रूपादि पञ्चकमयस्य जगत् सर्व संहारो करोति।

शास्त्रों में यह बात स्पष्ट हो गयी है कि वास्तव में भगवान् स्वयं ही प्रत्येक प्राणी के शरीर में प्रविष्ठ होकर इन्द्रिय शक्तियों की उन्मेष क्रिया के द्वारा, शब्द,

स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध को ग्रहण या अग्रहण करने से, भिन्न-भिन्न प्राणियों की निचित देश, काल एवं आकार की परिधि के अनुसार विश्व की सृष्टि और संहार करता रहता है। फलतः यदि कोई व्यक्ति किसी उपाय द्वारा अपनी विशेष रूपों में प्रवाहमान शक्तियों के संकोच को हटाकर, उनको मौलिक सामान्य अवस्था पर पहुंचा सके तो उसका स्वरूप विकास हो सकता है। स्पन्दकारिका के 46वें, 47वें एवं 48 सूत्र में शक्ति तत्व के अवरोह और आवरणात्मक स्वभाव और क्रिया शक्ति दो रूपों का वर्णन किया गया है, जिसमें इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया गया है कि स्वतंत्र आत्मा में स्वशक्ति अज्ञान ''प्रत्ययोद्भव'' के रूप में प्रकट हो जाता है। ''प्रत्ययोद्भव'' ही त्रिविध मल है। इसी से शिव, भाव से अवतीर्ण होकर, जड़ भाव की अन्तिम कोटि पृथ्वी तत्व तक पहुंच जाता है। ये सूत्र निम्नलिखित प्रकार से हैं -

''परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः।
तेना स्वतंत्रामेतिस च तन्मात्रगोचरः''[58]

अर्थात् विकल्प ज्ञानों का उदित होना ही, उसका परामृत रस की पदवी से लुढ़क जाना है। इसी से अस्वतंत्र बन जाता है। इस विकल्प ज्ञान के विषय पांच तन्मात्र हैं। वह स्वतंत्र प्रतिप्रमाता परामृतरस की पदवी से इसलिये लुढ़क जाता है कि उसमें ग्राह्य विषयों की उपलब्धि होने पर तद्विशयक स्मरण का उदय हो जाता है, जिससे वह पुरूष परतंत्रता और असर्वव्यापकता की अवस्था पर पहुंच जाता है। इस सूत्र में यह समझाया गया है कि बाह्य प्रसार की ओर उन्मुख होते ही शक्ति प्रत्ययोद्भव के रूप में विकसित हो जाती है। शिव की निजी अभिन्न स्वातन्त्रय शक्ति ज्यों ही माया शक्ति का रूप धारण कर लेती है, त्यों ही शिव में अपनी पूर्णता और स्वतंत्रता के विषय में शंका उत्पन्न हो जाती है। अपनी स्वतंत्रता को अन्यथा रूप में समझना ही सबसे पहला ''प्रत्ययोद्भव'' है। स्वतंत्रता की परिस्थिति दो रूपों में स्फुरित होती है -

1. स्वतंत्र ज्ञातृता की हानि
2. स्वतंत्र कर्तृता का अबोध

दूसरे शब्दों में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्वरूप से भिन्न ग्राह्य विषयों की उपलब्धि होते ही स्वतंत्र आत्मा को अपने अनात्म विश्वास और अनात्मभूत शरीर आदि पर आत्मविश्वास हो जाता है। यही सबसे बड़ा ''प्रत्ययोद्भव'' और मौलिक स्वातन्त्र्य हानि है, जिसे ''आणवमल'' कहा जाता है। इस प्रत्ययोद्भव से स्वातन्त्र्य के संदेह में पड़ने के साथ ही आत्मा की सर्वतोमुखी अवरोहण-प्रक्रिया

का उद्भव हो जाता है। चेतन ही जड़ बन जाता है। परावाणी ही स्थूल वैखरी - वाणी का रूप धारण कर लेती है। स्वतंत्र ज्ञातृता और कर्तृता ही संकुचित ज्ञान और क्रिया बन जाते हैं। इसके फलस्वरूप 36 तत्वों का बहिर्मुखीन अवभासन सम्पन्न हो जाता है। इसी सारी प्रक्रिया को "परामृतरसापाय" की संज्ञा दी जाती है। आवरणात्मक स्वभाव का वर्णन 47वें सूत्र में किया गया हैं।

"स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोस्थिताः।
यतः शब्दानुव्रेधेन न बिना प्रत्ययोद्भवः"[59]

अर्थात् ब्राह्मी इत्यादि शक्तियां इसके स्वरूप पर आवरण डालने के लिये प्रति समय उद्यत रहती हैं। इसका कारण यह है कि स्थूल और सूक्ष्म शब्दों की अनुस्थूलता के बिना "प्रत्ययोद्भव" सम्भव नहीं है। अर्थात् शब्द की सहकारिता के बिना किसी भी "प्रत्यय" अर्थात् विकल्प ज्ञान का उत्पन्न होना संभव ही नहीं है। इस सूत्र में शक्ति के "स्वरूप-आवरणात्म" स्वभाव का वर्णन करते हुये कहा गया है कि स्वरूप पर प्रति समय किसी न किसी प्रकार का आवरण डालकर, उसको आड़ में कर देना शक्ति का अकाट्य स्वभाव है। इसमें यह बात समझना आवश्वयक है कि शिव भूमि पर शक्ति का रूप अहं विमर्शमयी स्पन्दना अथवा पूर्ण स्वातन्त्र्य है अतः उस भूमिका पर स्वरूप गोपन का प्रश्न ही नहीं उठता हैं। किन्तु ज्यों ही शक्ति बहिर्मुख होकर माया शक्ति का रूप धारण करती है, त्यों ही इसकी स्वरूप गोपनात्मक प्रक्रिया का आरम्भ हो जाता है। इसी कारण माया को शास्त्रों में, "स्वरूपगोपनन्व्यग्रा" अर्थात् स्वरूप को तिरोहित करने में व्यस्त, की संज्ञा दी गयी है। इस स्वरूप आवरण को ही दूसरे शब्दों में "मायीयमल" कहा जाता है, क्योंकि मायीय आवरणों के द्वारा आवृत्त होने के कारण से ही शिव, अपने ही अंगभूत वेद्य पदार्थों को, स्वरूप से भिन्न समझने के संकोच की परवशता में पड़ जाता है। इसी सूत्र में "शब्दानुवेद्य" शब्द आया है, जिसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक अथवा ज्ञेय विषय प्रकाशरूप है और उसका वाचक शब्द उसके अणु-अणु में व्याप्त होने वाली विमर्शना है। शब्द ही प्रत्येक अर्थ को ज्ञान के रूप में सत्ता प्रदान कर देता है। क्योंकि संसार में किसी भी ऐसे अर्थ का सद्भाव ही नहीं है जिसके साथ शब्द न हो। इस प्रकार शब्द और अर्थ का साहचर्य साक्षात् शिव-शक्ति का संधटन ही है। क्रियाशक्ति के दो रूपों का वर्णन करते हुये 48वें सूत्र में कहा गया है -

"सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी।
बन्धयित्री स्वमार्गस्थाज्ञाता सिद्ध्युपपादिका"[60]

अर्थात् यह शिव की क्रिया शक्ति ही है जो कि पशुवर्तिनी बन जाने के

कारण बन्धन में डाल देनी वाली हैं, परन्तु अपने मार्ग पर अवस्थित होती हुई, वास्तविक रूप में ज्ञात होने पर, सि;ियां प्रदान करती है। वह क्रियाशक्ति ही अज्ञात होने की दशा में बन्धन का कारण है। परन्तु वास्तविक रूप में ज्ञात होने की दशा में मनुष्यों को पररूप और अपर रूप सिद्धियां प्रदान कर देती है। इस सूत्र में क्रिया शक्ति के दो रूपों का उल्लेख किया गया है -

1. शिववर्तिनी क्रियाशक्ति
2. पशुवर्तिनी स्थूल-क्रिया

इसमें पशुवर्तिनी क्रिया बन्धन में डाल देने वाली है जिसे कार्यमल कहते हैं। शिव में ज्ञातृता की भाँति कर्तृता भी है। शिव सम्बन्धिनी कर्तृता को "शिववर्तिनी क्रियाशक्ति" कहते हैं, जिसका स्वरूप विमर्शमयी स्पन्दना है। यही वह शक्ति स्पन्दना है जो मूर्ति भेद से जनित देशक्रम और क्रिया भेद से जनित कालक्रम से उपलक्षित, अनन्त प्रकार के शून्य, प्राण, पुर्यष्टक आदि प्रमाताओं और उनके नील, सुख आदि ज्ञेय विषयों को स्वरूप से और एक-दूसरे से भेद रूप में अवभासित करती है। अतः अनन्त वैच्त्रियों से परिपूर्ण विश्व का अवभासन ही, ईश्वर की क्रियाशक्ति है। यह निर्माण (विश्व निर्माण) भगवान् की इच्छा से ही यथावत् रूप में निश्पन्न हो जाता है और इसमें उसको किसी भी उपादान की आवश्यकता नहीं होती है। इस क्रिया का वह स्वयं ही स्वतंत्र कर्ता है और ऐसे निर्माण को स्वयं जानता भी है। इस शिववर्तिनी क्रिया शक्ति का कोई क्रम नहीं है, क्योंकि इस अवस्था पर इसका वास्तविक रूप - "मैं स्फुरित हो जाउं, मै धूर्णित हो जाउं, इस प्रकार के देश-काल क्रम से हीन "अहं रूप इच्छा स्पन्द" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

ईश्वरद्वैतवादः- कश्मीर शैव दर्शन में शिव एवं शक्ति के अद्वैत स्वरूप को स्वीकार किया गया है। शिव और शक्ति एक-दूसरे से अभिन्न है। शिव में चेतना शक्ति के कारण ही आती है। इन चेतना से ही शिव अपनी इच्छा शक्ति के द्वारा पूर्ण स्वतंत्रतापूर्वक इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं। शिव ज्ञान और क्रिया से मुक्त होते हुये भी अद्वैत रूप हैं। इस कश्मीर शैव दर्शन को प्रत्यभिज्ञा दर्शन भी कहते हैं जो अद्वैतवाद का प्रतिपादन करता है। इसे ईश्वराद्वयवाद भी कहते हैं। शक्ति से पृथक शिव जड़ के समान है। इस दर्शन में शिव एवं शक्ति के अद्वैत रूप का प्रतिपादन किया गया है। शिव और शक्ति एक-दूसरे से अभिन्न हैं। शिव के बिना शक्ति नहीं है और शक्ति के बिना शिव नहीं है। शिव और शक्ति एक ही परमेश्वर या परमसत् के दो रूप हैं। शिवतत्व प्रकाश रूप है और शक्ति तत्व विमर्श रूप है। प्रकाश का अर्थ ज्ञान या संवित् या चित् है। विमर्श का अर्थ विश्वाकर, विश्व प्रकाश

और विश्व संहार के द्वारा अकृत्रिम अहं का स्फुरण है। इसी को चैतन्य, स्वातन्त्र्य कर्तृत्व, स्फुरण, स्पनद, महावाक् और महासत्ता आदि भी कहते हैं। शिव चिद्रूप है, किन्तु वह अचेतन हैं। शिव मे चेतनता शक्ति के कारण होती है। शिव में चेतनता उसका विमर्श रूप है।

कश्मीर शैव दर्शन में 36 तत्व स्वीकार किये गये है, फिर भी वह अद्वैतवादी दर्शन है। उसमें मुख्यतः एक और अद्वितीय पदार्थ शिव-शक्ति या परमेश्वर या परमशिव है। अन्य तत्व उसके विमर्श व्यापार से प्रकट होते हैं। इसमें उस निपेक्ष सत् को ज्ञान तथा इच्छा दोनों से विशिष्ट माना जाता है। परमशिव अपनी पांच शक्तियों (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया) के द्वारा अपने को अपने ही उपर जगत् के रूप में व्यक्त करते हैं। यह कश्मीर शैव मत जिसे ईश्वराद्वयवाद कहा जाता है, परमशिव को स्वतंत्र तथा कर्ता मानता है। यह स्वातन्त्र्यवाद को स्वीकार करता है। परमशिव इसी स्वातन्त्र्य से अपने को प्रकाशित करते हैं। उनका यह स्व प्रकाश न तो विवर्तवाद है और न परिणामवाद यह आभासवाद है, जिसे पारिभाषित रूप में स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है। इस स्वातन्त्र्यवाद को मानने के कारण कश्मीर शैवमत जगत् को मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं मानता है। उसके अनुसार जगत् सत्य है, क्योंकि वह परमसत् की स्वातन्त्र्य का विजृंभण है। आधुनिक युग में महामहोपाध्याय ने ईश्वराद्वयवाद को ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की पराकाष्ठा कहा है। शैवमत में यह पराकाष्ठा वैसे ही है जैसे वैष्णवमत की पराकाष्ठा चैतन्य के अचिन्त्य भेदाभेद में हुई है। यह अद्वय रूप परमशिव या परावाक् पसृत होकर पहले इच्छा ज्ञान क्रिया रूप को प्राप्त होती हैं। इनमें स्वर वर्णो में बीज अथवा शिवांश तथा व्यंजनो में योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहते है परा की अनुभूति से महानन्द की प्राप्ति होती है। पराशक्ति के स्फुरण को दृष्टिगत करना या उसकी अनुभूति करना ही ज्ञानियों का विश्व दर्शन है। उसको एकपदी भी कहते हैं। परावाक् की अनुभूति से ही -

केवलं ज्ञान संभूतिः भासते शाश्वतीप्रभा।[61]
न भीताः भवन्ति उपसर्गेभ्यः।।

तब वह तत्वातीत अवस्था आती है, जिसमें शिवशक्ति की समरसावस्था होती है। यह परा का ज्ञान विशिष्ट ज्ञान है। वह ऐसी शक्ति है जो प्राणों को जीवतत्व शक्तियुक्त करती है। शिव के केवल दृष्टिपात मात्र से जीव तत्व की नवसृष्टि तक हो जाती है। इसमें वर्णो की शक्ति के साथ-साथ तंत्र का भी विचार किया जाता है। समयाचार वाले हृदयाकाश का ध्यान करते हैं। इसमें मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी के जागरण से चक्र और ग्रन्थियों का भेदन करके शिव शक्ति का

सामरस्य प्राप्त किया जाता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सि;न्तानुसार ही शिव सूत्रों का भी सिद्धान्त है कि "शिव एव शिवस्य आत्मा" शिव ही विश्व की आत्मा है। वह सर्वज्ञान क्रिया आदि में स्वतंत्र है। वह सर्वोपाधिविवर्जित है। शिव सूत्र में भी शिव का अद्वैत रूप ग्राह्य है क्योंकि उसका उद्भव ही अद्वैत प्रतिपादन के लिये हुआ है-

चैतन्यमात्मनोरूपं सि;ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वंकेन वार्यते।।[62]

परमात्म स्वरूपं तु सर्वोपाधि विर्जितम्।
चैतन्योमात्म रूपं सर्वशास्त्रेषु पठयते।।

इसी प्रकार शिव सूत्र विमर्शिनी में कहा गया है -

गोपितास्य महिम्मोडस्य संमोहाद्विस्मृतात्मनः
यः संकोच स एवास्य आणवोमल उच्यते।[63]

ततः षट्कञ्चुकण्याप्ति विलोपित निजस्थितेः भूतदेहस्थितियों सोमायीमल उच्यते। यदस्य करणाधीनारब्धि कर्मेन्द्रयादिभिः वहिर्व्याक्रियते कार्यमलमेतस्य तनमतम्।।

अर्थात् शिव का अनुग्रह आणविक, मायीक और कर्ममलों को दूर करने के लिये ही होता है। मलों के कारण ही बन्धन बना रहता है। बन्धन को नष्ट करने के लिये जो उद्यम होता है वही भैरव है उसके कारण शुद्ध तत्वानुसंधान होता है। इस अनुसंधान से अपशुशक्ति का प्रादुर्भाव होता है। शुद्ध तत्व परम शिव ही है, क्योंकि वह माया और उसके उपर जो महामाया है उन दोनों से परे अद्वयरूप है। समस्त विश्व शिवमय है। ऐसा विचार विमर्श करना ही शुद्ध तत्व की प्राप्ति का लक्षण है। यही जीव का आत्मज्ञान है। शिव और शक्ति का अभेद प्रतिपादन करते हुये शिव पुराण में कहा गया है-

न शिवेन बिना देवी न च देव्या विनाशिवः
नानयोनन्तरं किंचित् चन्द्रवच्चद्रिकयोखि।।

न शिवः शक्ति रहितोन शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्त्यस्तया भावत् इच्छयाकर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोभेदः शैवेजातुर्न वर्श्यते।।[64]

अर्थात् शिव और शक्ति का अभेद प्रतिपादन ही कश्मीरी शैवागम और प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ध्येय रहा है। इसकी पुष्टि सोमानन्द ने भी की है और

अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने भी उपर्युक्त सूत्र में इसी बात की पुष्टि की है कि शक्ति के बिना शिव नहीं तथा शिव के बिना शक्ति नहीं है। शक्ति और शक्तिमान में अभेद है। क्षेमराज ने इसे और भी पुष्ट धारणा के साथ कहा है कि -

शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोस्य जगत् कृत्स्नं शक्तियांस्तुमहेश्वरः।।

अर्थात् सर्वसृष्टि व्यापक अमृतवर्ण को दिखाकर अन्त में प्राण बीज को दिखाकर पश्चात् कलात्मक रूप विधान करके मंत्र वर्ण पदाध्वरूप एवं कलातत्व भुवनाध्वरूपात्मक विश्व का निर्माण करके शिव शक्ति ने समस्त विश्व को अपने गर्भ में स्थित कर दिया है। शिव बीज है, शक्ति योनि है। दोनों के सामरस्य के बिना सृष्टि भी नहीं हो सकती। अतः सृष्टि उत्पादन कारण को दृष्टि में रखते हुये भी दोनों का एकत्व ही पूर्ण विश्व का मूल है। द्वैत महामोह को विनष्ट करना ही प्रत्याभिसा दर्शन का मूल ध्येय रहा हें अद्वैत भावना की परिपुष्टि होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। प्रत्यभिज्ञा शब्द के अर्थ पर विचार करने से उसका अर्थ ही उसके सिद्धान्त को स्पष्ट कर देता है। जो सर्वजगत् को व्याप्त कर आभासित हो रहा है उसका अर्थ ही उसके सि;ान्त को स्पष्ट कर देता है। जो सर्वजगत् को व्याप्त कर आभासित हो रहा है उसको जानना या पहचानना या उसकी अनुभूति करना - इस प्रकार के विषय को जो शास्त्र बताता है, उसे प्रत्यभिज्ञाशास्त्र कहते हैं। क्योंकि इस सि;ान्त में "सर्वम् शिवमयम् जगत्" "शिवोक्र्ता-शिवोभोक्ता" इस धारणा की पुष्टि की जाती है। शिव ही अद्वैत भाव से ध्येय एवं ज्ञेय है। इस मत के अनुसार शिवत्व लाभ ही मोक्ष है। शिव ही सर्वप्रिय है। गुरू के अनुग्रह से उसकी प्राप्ति हो जाती हैं। शिवसूत्र विमर्शिणी का भी मूलोद्देश्य है कि साधक अद्वेत भावना से शिव चिन्तनके कारण, शिव तुल्य ही हो जाता है। जिस शिवाद्वैत भावना की अभिव्यक्ति हम काश्मीरी शैव सिद्धान्त में पाते हैं, वह शिव सूत्रों पर विशेष रूप से आधारित है। शिव सूत्रों के सिद्धान्त को ही लेकर पूर्वापर उन पर विभिन्न दृष्टिकोण से विचार-विमर्श करके अन्तिम निष्कर्श केवल अद्वैतवादी भावना की पुष्टि है। शिव सूत्र विमार्शिणी, शिवसूत्रवार्तिक तथा स्पन्दकारिका आदि का भी निष्कर्ष इस अद्वैतवादी भावना की पुष्टि करती है। इसी प्रकार शिव पुराण में भी इस अद्वैतवाद को स्पष्ट किया गया है। शिव पुराण का अद्वैवाद शैली की दृष्टि से या चिन्तन की परम्परा से भले ही कुछ पृथक् जान पड़े किन्तु तत्वतः उसमें किसी प्रकार कोई भेद नहीं है।

मुनियों द्वारा सूतलोमहर्शण जी से यह प्रश्न करने पर कि वह कौन सा

ज्ञान है जिससे साधक शिवत्वलाभ करता है और सब कुछ शिव ही है, यह कैसे कहा गया है? तो सूत जी ने बताया कि ब्रह्म से लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ भी दृश्यमान जगत् है, वह सब शिवमय ही है। जब उसकी इच्छा होती है, तब वह जगत को उत्पन्न कर लेता है। यह सब वह जानता है, परन्तु उसे कोई भी नहीं जानता है। सब कुछ रचना करने पर भी वह सबसे दूर ही रहता है। वह पूर्ण स्वतंत्र है, निर्लिप्त है, चित् स्वरूपवान् है। जिस प्रकार चन्द्र का प्रतिबिम्ब जल पर पड़ता है किन्तु स्वयं चन्द्र जल में प्रविष्ट नहीं होता, किन्तु प्रविष्ठ हुआ सा प्रतीत होता हैं, इसी प्रकार शिव भी इस जगत् में प्रतिभासित सत्ता के रूप में ही रहता है और उससे दूर अद्वैत रूप भी है। आभास के क्रम में वह एक ही दो रूपों में दिखाई देता है। आभासमान होने वाली उसकी शक्ति ही है जो उससे अभिन्न है। अज्ञान के भेद के कारण वह द्वैत बु; से देखा जाता है। उस अद्वय परमशिव का ही अंश जीव है। वह अविद्या मोह के कारण ही "मैं अन्य हूं" इस प्रकार की धारणा बना लेता है। उस अज्ञान पास से मुक्त होने पर वह साक्षातृ शिव ही हो जाता है। अभिनव गुप्त ने परमेश्वर या शिव एवं जगत् का संबंध दर्पण विम्बवत मानते है। परमेश्वर में प्रतिबिम्बत यह जगत् अभिनन होने पर भी भिन्न प्रतीत होता है। उसकी स्वतंत्र शक्ति के कारण बिना बिम्ब के ही जागद्रूप प्रतिबिम्ब स्वतः उत्पन्न होता है।

जिस प्रकार दर्पण में वस्तु का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार समस्त विश्व में शिव का प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है। जिस प्रकार एक़ ही सूर्य को लोग भिन्न-भिन्न जल धाराओं के कारण लोग बहुत्व रूप में देख लेते हैं, उसी प्रकार एक ही शिव की प्रतिविम्बात्मक भावना नानात्व का कारण है। वस्तुतः "सर्वःशिवः, शिव सर्वोनास्ति मेदश्चकश्चनः" यही अद्वैत की दृष्टि है। समस्त शिव पुराण का अन्तर्मथन करने पर सार-सार रूप में इसी अद्वैत भावना की पुष्टि है। सूत जी ने स्वयं कहा है कि - इतिहास पुराणानि वेदांत्द्धास्त्रा विचासकृत। विचार्यो द्वच्च तत्सारं मह्यमूव्यासेन भासितम्।। इतिहास पुराणानि वेदांच्द्धास्त्रा विचाकृत। विचार्यादृव्य तत्सारं महयमूव्यासेन भासितम्।। क्षेमराज ने भी शिव सूत्र विमर्शिणी की टीका में लिखा है -

"न शिवेन बिना देवी न च देव्या बिना शिवः"[65]

वही शिव पुराण में भी मिलता है कि "एकश्चैव शिवः शक्तिरितियावो विधीयते" शिव और शक्ति दोनों एक ही तत्व है। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि यह अद्वैतवादी दर्शन है। शैवागमों में शिव-शक्ति का सामरस्य ही परमशिवतत्व है। शाक्त आगमों में इसे पराशक्ति नाम दिया गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का शिव तत्व

और शक्ति तत्व को त्रिपुरार हस्यवादी मत में कामेश्वरी और कामेश्वर शिव नाम से अभिव्यक्त किया गया है। यह सामरस्यावस्था जो अद्वैतवाद की अवस्था है, त्रिपुरा सुन्दरी के नाम से जाना जाता है। पाशुपत शैवागम की सबसे बड़ी शक्तिपात दीक्षा एवं कुण्डलिनी जागृति है। परन्तु यही बात शुद्धशैवागमों में भी कहीं-कहीं देखने को मिलती है। रस दर्शन में पारद की ही विशेषता दी गयी है। वीर शैव मत में शक्ति विशिष्टा द्वैत को श्रेय दिया गया है। कापालिको मे छः मुद्राओं को विशेष महत्व दिया गया है, परन्तु यह उनकी चर्या का रूप है। सिद्धान्त पक्ष में भी वे भी "शिवोडहम्" के ही मानने वाले अद्वैतवादी भावना के ही पोषक हैं। इसी प्रकार त्रिक दर्शन में अद्वैतवादी भक्ति का आविर्भाव एक विशेष वस्तु है। आधार पद्वति में तो भेद प्रतीत नहीं होता है। किन्तु कुछ में अद्वैत या द्वैताद्वैत के कारण भेद प्रतीत होता है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में शिव-शक्ति के अद्वैतरूप या ईश्वराद्वयवाद की ही पुष्टि की गयी है। अर्थात् सोमानन्द ने अपनी पुस्तक शिव दृष्टि में लिखा है कि "शिव अपनी इच्छा से भावों को या पदार्थों को करने में समर्थ हैं। शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं है।"[56] शिव दृष्टि में शिवतत्व को आत्मसात कर समरूप में देखा गया है। ईशवराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञापदर्शन में कहा गया है कि परमेश्वर केवल मात्र तत्व है तथा अन्य रूप उसकी स्वेच्छा से ग्रहण किये गये रूप हैं। वह अपने रूप को ग्रहण करने के लिये छिपाने में स्वयं समर्थ है। वह प्रचकृत्यों का सम्पादक है। शाश्वतसत्य शक्ति और शक्तिमान उभयरूप है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है। भेद का कारण अज्ञान है और अनुभूति है। यह अद्वैत शिवतत्व निश्प्रपच्च, निराभास, गुरू अपने आप में अवस्थित एवं सर्वातीत हैं शिवतत्व इस जगत का आदि तत्व है। जगत् की सृष्टि के पूर्व एकमात्र शिवत्त्व ही विद्यमान रहता है। किन्तु जब वही "एकोह्म बहुस्याम्" की उन्मेषणा करके शक्ति में स्पन्द उत्पन्न करता है तब वह शक्तितत्व विश्वबीजरूप कहा जाता है। परमशिव विश्वातीत रूप है, या विश्वान्तर्यामी रूप हैं। इस विश्वान्तर्यामी परमशिव का वर्णन करते हुये कहा गया है -

अहं शिवः शिवश्चायं त्वं चापि शिव एवहि।[67]
सर्वशिवमयं ब्रह्म शिवात् परं न किंचन्।।

अर्थात् मैं शिव हूं। यह भी शिव ही है। तुम भी शिव हो। सब कुछ शिवमय है। सारा ब्रह्माण्ड ही शिवमय है। शिव के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। शिवतत्व ही आदि तत्व है उस एक तत्व से पृथ्वी तक सभी तत्वों की उत्पत्ति हुई है। इसलिये शिवतत्व को मूल कारण भी माना गया है। वही अधिष्ठाता है। प्रकाश रूप में जो कुछ भी देखा जा रहा है वह सब उसी एक - देव का ही रूप है। शिवतत्त्व का चिदात्मक रूप शक्ति। वह परारूप शक्ति है यह पूर्ण शक्तियों का समष्टिरूपा है।

इसी शक्तित्व को कुण्डलिनी शक्ति भी कहते हैं। इसी को माया शक्ति या मायातत्व भी कहते हैं शक्ति के कारण ही शिव को शक्तिमान भी कहा गया है। जिस शक्ति से शिव शक्ति का उन्मेष करता है, संवित् को धारण करता है, देखता है और उद्भासन करता है वह है पराशक्ति जो भेदाभेद से मुक्त है वह है शिव की पराशक्ति। जो पूर्णरूपेण भेद रूप से आभासित होती है उसे अपराशक्ति कहते हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण ये शक्तियां 12 रूपों में विभक्त हो जाती हैं। जिसका वर्णन तन्त्रसार में इस प्रकार है-

1. ''संवित् शक्ति पूर्वावस्था के आन्तरिक रूप का द्योतन करती है, उसे गति देती है।
2. पुनः अन्तरावस्था को गति देकर बाह्य रूप में भी गतिमान होती है।
3. तब अनुरागमय भाव को ग्रहण कर उसी भाव को अन्दर और बाहर ग्रहण और प्रेक्षण करती है।
4. पुनः उपसंहार की विघ्नभुता शंका निर्माण करती है और उसका ग्रास भी करती है।
5. शंका ग्रस्त होने वाले भाव को पुनः अपने आप आपमें शान्त भी कर देती है। पुनः
6. यह मेरा है, इस प्रकार के भाव को भी उदय करती है।
7. पुनः किसी भाव को वासनारूप से स्थित भी करती है और किसी भाव को संवित् शक्ति में ही सन्निविष्ट कर देती है।
8. पुनः करणचक्र का निर्माण करती है।
9. तत्व उनके स्वामियों की सृष्टि भी करती है।
10. पुनः मायारूप के भोज ज्ञान की उत्पत्ति करती है।
11. पुनः संकोच-त्याग-विकास-ग्रहणरसिक भी प्रमाता पुरूष को बना देती है। पुनः विकसित रूप को विस्तार में लाकर उसे भी अन्त में अपने में ही लय कर देती है। यह बारह संवित् शक्ति के भेद हैं। इन शक्तियों के समष्टि को काली भी कहते है।[68]

शक्ति तत्व के कारण जहां चित् तत्व का प्राधान्य रहता है, वहां शिवतत्व होता है आनन्द की प्रधानता होने से शक्तित्व माना जाता है। इच्छा के प्रधान होने पर सदाशिवतत्व माना जाता है। ज्ञान की प्रधानता के कारण और क्रिया के कारण ईश्वरतत्व होता है। केवल क्रिया तत्व के प्रधान होने पर विद्यातत्व होता है। तत्वात्मिका सृष्टि में शक्ति का संयोग नित्य संयोग है। उन्मेष में शक्ति का प्रसार होता है और निमेष में संकोचं ये विशुद्ध संवित् चक्र के कार्य हैं। शक्ति ही सर्व

कारणरूपा है। शक्ति ही विश्व जननी एवं विश्वाधिष्ठात्री है। जिस रूप से शक्ति बाहर और भीतर अपना विस्तार करती है उस रूप को अधोरा शक्ति रूप कहते हैं। वह शिवतत्व को आच्छादित कर उसे अन्तर्लीन कर देती है और स्वयं प्रपंची बन जाती है।

"इच्छाशक्तितया कुमारी"[69]

इस इच्छा शक्ति को ही कुमारी शक्ति कहते है। इस इच्छा शक्ति से ही सर्वत्र दृष्यमान् जगत् में शक्तियथेच्छ रमण करती है। यह जो चाहती है, वह करती है यही स्पन्दशक्ति है। जब तक सिद्ध माया असिद्ध रूप में साध्य कर्म किसी आश्रय का आधार बना रहता है तभी तक क्रिया होती है। शिव पुराण में शक्ति के सम्बन्ध में कहा गया है कि - शिवेच्छा से पराशक्ति। जब शिवतत्व के साथ एकता को प्राप्त होती है। तब सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। सृष्टि का आदि रूप तिल में तेल के समान रहता है। पुनः क्रिया के स्फुरण से नाद सृष्टि होती है। नाद से बिन्दु का प्रार्दुभाव होता है। बिन्दु से सदाशिव का प्रादुर्भाव होता हैं। सदाशिव से महेश्वर और महेश्वर से शु; विद्या की उत्पत्ति होती है। इसी को वागीश्वरी कहते हैं। फिर आगे चलकर क्रमशः समस्त सृष्टि का विकास होता है। शाक्त एवं कालीतंत्र में भी और शक्तिमान् को एक ही समझते हैं। काली विलास तंत्र में भी उसे अद्वैत रूप ही कहा गया हैं - "अद्वैतरूपिणी, आद्या, असिता अणिमा तथा अम्बिका चापरायैव अपर्णा अलिनीति च अलम्वुशा, अधोरा आदि च अक्रूशधोर रूपिणी।।[70]

इस अद्वैत रूप काली को आदि, अम्बिका, अधोरा आदि नामों से कहा गया है। वही भैरवी है। वही भद्रा है। सर्वेश्वरी भी वही है। शक्ति के कारण ही शिव को शक्तिमान् और जगत् को शैवांश माना जाता है। शक्ति के बिना शक्तिमान् ही कहां? शक्तियुक्त को ही शक्तिमान् कहते हैं। अतः दोनों में भेद नहीं। यही अभेद की प्रतीति अद्वैतवाद की मूलभित्ति है। शक्ति और शक्तिमान् के अद्वैतरूप को ही ज्ञानी और योगी लोग अपनाते हैं। अपनी ज्ञान साधना का तत्व उसी में ढूढ़ते हैं। जो अद्वैत भाव से इस दिव्य विभूति को प्राप्त कर लेता है वही सायुज्य का अधिकारी होता है। जो शक्ति और शिव को अभेद रूप से, ज्ञान या योग के कारण अपने हृदयस्य ही जानते हैं और अनुभूति में लाते हैं वे वास्तविक रूप से प्रपच्चों से मुक्त होकर परम शान्ति के अधिकारी होते हैं। उसके (शक्ति और शक्तिमान् शिव) शाश्वत् संयोग की अनुभूति करने वाले ही योगी, ज्ञानी और परमवेत्ता है। शिव शक्ति की अद्वैत भावना का ज्ञान (शास्त्रीय ज्ञान) एक पक्ष का है और अनुभूतिजन्य ज्ञान दूसरे पक्ष का है। अनुभूतिमय ज्ञान ही शिव शक्ति की अद्वैतावस्था का द्योतन

करता है। अवस्था भेदों में स्वरूप की अभेद अवस्था का वर्णन करते हुये स्पन्दकारिका में कहा गया है-

ज्ञानज्ञंयस्वरूपिण्या शक्तयापरमया बुतः।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः।।[71]

सर्व व्यापक आत्म तत्व जाग्रत अवस्था में केवल ज्ञेय पदार्थो का रूप धारण करने वाली और स्वप्न अवस्था में केवल ज्ञान का रूपधारण करने वाली, महान् विमर्शशक्ति के द्वारा प्रकाशमान् रहता है। इन दो अवस्थाओं के अतिरिक्त अन्य अवस्थाओं में केवल चिन्मात्र रूप में प्रकाशमान् रहता है। ये अवस्था भेद औपचारिक है क्योंकि इन सबों का अनुभविता एक ही होता है। अनुभव सिद्ध पुरूषों का कथन है कि जाग्रत अवस्था पूर्णतः प्रमेय भूमिका है। इसमें विमर्श शक्ति प्रमेय भूमिका पर उतर कर, सांसारिक प्रमेय, प्रमाण, प्रमाता और प्रमा की विचित्रताओं से भरे हुये, प्रमेय विश्व के रूप में ही स्पन्दयमान रहती है। यह अवस्था प्रतिसमय अधिष्ठातृ अवस्था नहीं बन सकती है। इस अवस्था में शक्ति ज्ञेय रूप में ही विलासमान है। अतः सावधान पुरूषों को ज्ञेयता में ही स्वरूप की अनुभूति होती रहती है। स्वप्नावस्था में संवित् भट्टारिका वैकल्पिक ज्ञान रूप में ही स्पन्दित होती हुई, जाग्रत अवस्था के ही धट, पर आदि ज्ञेय पदार्थों को मानसिक संकल्प रूप में इस प्रकार सुस्पष्ट रूप में अवभासित कर लेती है कि मानों प्रमाता जाग्रत अवस्था के समान ही, बाह्य इन्द्रियों के द्वारा उनका ग्रहण कर रहा हो। इस प्रकार यह स्पट है कि स्वप्नावस्था में, जाग्रत अवस्था के ही अनुभूयमान वेद्य पदार्थ, बाह्य स्थूलरूप में वर्तमान न होते हुये भी, मानसिक संकल्प रूप में ;ज्ञान रूप मेंद्ध वर्तमान रहते हैं। इसीलिये इस अवस्था का दूसरा नाम अधिष्ठान अवस्था भी है। सावधान पुरूषों को इस अवस्था में, वैकल्पिक ज्ञान रूप में ही स्पनदायमान स्वरूप की अनुभूति प्राप्त होती है। सुषुप्ति अवस्था में, वह जाग्रत एवं स्वप्न का अनुभव करने वाला अनुभाविता ही, चिन्मात्र रूप में अवस्थित होकर, जाग्रत के ज्ञेयरूप और स्वप्न के वैकल्पिक ज्ञानरूप वेद्य पदार्थों को ग्रहण करने के प्रति पूर्णतया सुप्त अर्थात् विमुख हो जाता है।

अनुभूतो विकल्पे च योक्रसो द्रष्टा स एव हि।[72]
न भाव ग्रहण्र तेन सुष्ठु सुप्तत्व मुच्यते।।

फलतः इस काल में, वही पूर्वोक्त अधिष्ठातृरूप में (अर्थात् अन्तःसंवेदन के रूप में) वर्तमान प्रमेय भाव, संस्कार रूप बनकर, मानो गहरी नींद में जैसे पड़े रहे हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सुषुप्ति काल में वेद्यता पूर्णतया गलकर चिन्मात्ररूपता में लय नहीं हो जाती है, बल्कि संस्कार रूप में वर्तमान रहती है। इसी

कारण सुषुप्ति काल के बीत जाते ही अन्तः संवेदन में फिर भी वेद्यता का उदय हो जाता हैं शास्त्रकारों ने इस अवस्था को "मुख्य मातृदशा" की संज्ञा दी है, क्योंकि इसमें प्रमाता मुख्य चिन्मात्र रूप में अवस्थित रहता है। तुर्यावस्था में योगी सुषुप्ति की अवस्था को लांधकर, इसके उपरितन स्तर पर विद्यमान एक ऐसी अवस्था में प्रविष्ट हो जाते हैं, जहां उनके मन में विद्यमान् वेद्यता के संस्कार भी अवशिष्ट नहीं रहते हैं। इसको तुर्यावस्था कहते हैं, शास्त्रों के अनुसार यह शुद्ध प्रमारूप, अखण्ड, सर्वतोमुखी चिन्मात्र रूपता की अवस्था है। वही अंतिम शिवभाव मे प्रविष्ट करने का सिंह द्वार है। और यहाँ पर पहुंचे हुए सान्धक की सारी मायीय उदासीनतायें सदा के लिये शान्त हो जाती हैं। इसी अवस्था को स्पन्दाशास्त्र में ज्ञान क्रिया की सास्वत स्पन्दभ्यी विमूश भूमिका कहते है। यह अवस्था पुर्ण चिन्मत होने के कारण स्वयं ही जाग्रत आदि तीन पूर्वोक्त अवस्थाओं में व्याप्त रहकर, उनको जीवन देती है। अन्ततः उपर्युक्त तीनों अवस्थाये इसी अवस्था में लय हो जाती हैं। यह अवस्था साक्षात् शाक्तसमावेशात्मक अभेद व्याप्ति की ही अवस्था है। उपर्युक्त चारों अवस्थाओं के विश्लेषण से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं-

1. जाग्रत अवस्था में शक्ति की स्फुरणा का रूप ज्ञेयता है।
2. स्वप्न अवस्था में शक्ति की स्फुरणा का रूप संकल्प-विकल्पात्मक ज्ञाप्ति हैं।
3. सुषुप्ति अवस्था में शक्ति की स्फुरणा का रूप चिन्मय है, परन्तु ज्ञेयता संस्कार रूप में अवशिष्ट रहने के कारण पूर्ण चिन्मय नहीं है।
4. तुर्यावस्था में ज्ञेयता के संस्कार भी अवशिष्ट नही रहते है अतः इसमें शक्ति स्फुरणा का रूप पूर्ण चिन्मय है।

इस प्रकार जाग्रत अवस्था से लेकर तुर्यावस्था तक चेतना की अभिव्यक्ति के द्वारा यह बताने का प्रयास किया गया है कि चित् की स्फुरणा किस प्रकार अद्वैत रूप शिव-शक्ति से उतरकर विश्व में व्याप्त होती है तथा साधक के द्वारा पुनः उत्तरोत्तर किस क्रम में साधना करने पर पुनः परमार्थ सत् का लाभ प्राप्त होता है। इस चरम अवस्था में अद्वैत भाव की पुष्टि होती है जहां योगी को शिव एवं शक्ति के अद्वैत रूप की साक्षात् अनुभूति होती है। काश्मीर शैव दर्शन इसी अर्थ में शिव को ईश्वराद्वय के रूप में स्वीकार करता है, जो शैव परम्परा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण दर्शन के रूप में प्रतिष्ठित है।

स्पन्दकारिका में सभी सूत्रों को प्रस्तुत करने के उपरान्त निष्कर्श रूप में

कहा गया है कि "विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक रूप में केवल एक ही सर्व स्वतंत्र चेतन सत्ता विद्यमान है। वह सत्ता प्रकाश रूप शिव और उसकी अभिनव विमर्श शक्ति की समरस अवस्था है। शक्ति ही शिव है और शिव ही शक्ति है। अहं विमर्शमय शक्ति का स्वरूप है। यह सारा नामरूपात्मक व्यक्त विश्व शिव की बहिर्मुखीन शक्ति स्पन्दना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि अभेद भूमिका पर पूर्णाहन्तारूप स्पन्दशक्ति एक ही है तथापि वह बहिर्मुखीन भेद भूमिका के अवमासन करने का शाश्वत स्वभाव होने के कारण, स्वतंत्रता से, सामान्य भूमिका से विशेष भूमिका पर उतरकर, अनन्त भावात्मक और भूतात्मक रूपों में स्पन्दायमान है। इसके ये अनन्त विशेष स्पन्द ही विश्व के अनन्त चेतना और जड़ भाव है। इन्हीं अनन्त शाक्त स्पन्दों को शास्त्रीय शब्दों में "शक्ति चक्र" कहते हैं। अद्वैत शिव अपनी इच्छात्मक विमर्शना से ही प्रतिसमय इस शक्तिचक्र के संयोजन और विमोचन के रूप में, सारे भाव वर्ग के, सृष्टि, स्थिति, संहार, विधान और अनुग्रह, इन पांच कृत्यों के युगपत् और स्वतंत्रता से करता रहता है। फलतः वह इस सम्पूर्ण शक्तिचक्र का स्वतंत्र अधिपति होने के कारण "चक्रेश्वर" है।

यह नानारूपात्मक जगत् की अभिव्यक्ति शिव के विमर्श से ही होता है जो शक्ति के कारण सम्भव होता है। इससे सृष्टि, स्थिति एवं संहार, विधान और अनुग्रह ये पांचों कृत्य सम्पन्न होते हैं। जब कि जीव शिव रूप ही है, वह अद्वैत शिव ही है। यह पारमार्थिक दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से ही कश्मीर शैव दर्शन शिव एवं शक्ति में पूर्ण अभेद को स्वीकार करता है। इसी कारण यह ईश्वराद्वयवाद के नाम से जाना जाता है। इसी अर्थ में कश्मीर शैव दर्शन को अद्वैवादी दर्शन कहा जाता है। परमार्थ सब अपने चरम रूप में परा संवित् है। यह सब परिवर्तनशील पदार्थों का निर्विकार तत्व है। इस परासांवित में अहं और इदं का ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता है इसमें अहं और इदं की अविभासित एकता रहती है। यह वह चेतना है जिसको सदा अपनी चेतना बनी रहती है।

यह "प्रकाश विमर्शमय" है। परमार्थ या चरम तत्व को प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में परमशिव या महेश्वर या परमेश्वर कहते हैं। यह प्रकाश मात्र नहीं है। "प्रकाश" वह है जिसके द्वारा सब कुछ प्रकाशित होता है। उसी के प्रकाशमान् हाने के कारण ही सब कुछ प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशमान् है। परमशिव के "प्रकाशविमर्शमय" की अवस्था में अहं और इदं एक अभिन्न ऐक्य में होते है। अहं प्रकाश रूप है और अहं का अहं रूपेण प्रत्यवमर्श विमर्श रूप है। यह विमर्श स्वातन्त्र्य या अबाधित शक्ति है। पराप्रवेशिका में क्षेमराज ने इसी को परमशिव का

हृदय कहा है। "हृदयं परमेशितुः"[73] शक्ति और शक्तिमान अभिन्न है। परम् अनुभूति में जो इदं कहा जाता है वह अहं ही है। यह शक्ति शून्य नहीं है। इसमें सब कुछ है।

यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः।[74]
तथा हृदय बीजस्यं विश्वमेतच्चराचरम्।।

जैसे वरगद का बड़ा वृक्ष अपने बीज में शक्ति रूप में विद्यमान् रहता है, उसी प्रकार यह चराचर विश्व शक्तिरूप में महेश्वर के हृदय में विद्यमान् रहता है। महेश्वर की शक्ति ही पराशक्ति है, जो उससे अभिन्न है। महेश्वरानन्द ने महार्थ मज्जरी में कहा है - "स्वातन्त्र्य से परिपूर्ण स्वच्छस्वरूप शिव ही मेरी चेतना में सदा स्फुरित होता रहता है। पराशक्ति ही मेरे इन्द्रियों के प्राप्त में क्रीड़ा करती रहती है तो फिर यह समस्त जगत् शुद्ध अहं चेतना के चमत्कार से स्फुरित होता रहता है। न जाने कहां से संसार की ध्वनि मेरे कानों पर पड़ती हैं।"[75]

चतुर्थ अध्याय

मोक्ष का स्वरूप एवं साधन

कश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष का वास्तविक स्वरूप "अहं" रूप है। निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा ही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है, जहां "इदं" रूप किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं होता है। इस अवस्था में सभी प्रकार के बन्धन नष्ट हो जाते हैं तथा साधक को अपने स्व का वास्तविक चेतना होती है। यह चेतना ही शक्ति रूप है जो सदैव ही "अहं" रूप शिव के साथ अद्वैत रूप में उपस्थित रहती है। "अहं" की चेतना का होना मोक्ष के अद्वय स्वरूप की अनुभूति के लिये अनिवार्य है। इसीलिये "अहं" एवं उसकी चेतना को एक साथ ही देखा जा सकता है। इन दोनों का अलग करके अनुभूति करना सम्भव नहीं है। मोक्ष वास्तविक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा है, अर्थात् अकृत्रिम अहं विमर्श का उदय मोक्ष है। अकृत्रिम अहं विमर्श को उत्पल्देव ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट किया है -

"अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापिवाग्वपुः नासौ विकल्पः, सुहायुक्तो द्वयापेक्षी विनिश्चयः।"[76]

शु; अहं विमर्श विकल्प नहीं है, क्योंमि विकल्प सापेक्ष होता है। अहं विमर्श या आत्म बोध अनात्म की विपरिता की अपेक्षा से होता है। इस प्रकार शुद्व अहं-विमर्श सापेक्ष नहीं होता है। वह एक अव्यवहित अपरोक्षानुभूति है। जब ऐसी अनुभूति होती है तभी अपने वास्तविक स्वरूप का बोध होता है। यह वास्तविक स्वरूप का बोध ही मोक्ष है। अभिनव गुप्त ने कहा है-

"मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूप प्रथनं हि तत्"[77]

मोक्ष और कुछ नहीं है, केवल अपने स्वरूप का उन्मेष ही मोक्ष है। "शुद्ध अहं विमर्श से चिदानन्द का लाभ होता है। चित् ही अब चित् या चिति में परिणत हो जाता है।"[78] शुद्ध अहं विमर्श के लाभ होने से शिव-चेतना का उदय होता है जिसमें सारा विश्व अहंमय या शिवमय प्रतीत होता है। इस दर्शन में सर्वोच्च आनन्द जगदानन्द है जिसमें सारा विश्व शिव प्रतीत होता है। यह मोक्ष शक्तिपात या अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकता है। अनुग्रह या शक्तिपात के अधिकारी वे जीव होते है जो पूर्वजन्म के संस्कार से उन्नत अवस्था को पहुंचे होते हैं। वे बिना किसी विशेष साधना के ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। जो जीव उनसे कम विकसित होते हैं वे मध्यमशक्तिपात के अधिकारी होते हैं। इस शक्तिपात से वे गुरू की खोज करते हैं और उनसे शिक्षा प्राप्त कर साधना करते हैं तथा उचित समय पर मुक्त हो जाते हैं। वे जीव जो उनसे भी कम विकसित होते है वे मंद शक्तिपात के अधिकारी होते है। इससे आध्यात्मिक ज्ञान के लिए उत्कण्ठा जागृत होती है और वे भी समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। अनुग्रह नैतिक और आध्यात्मिक साधना द्वारा अर्जित किया जाता है। इस अनुग्रह को प्राप्त करने के चार मुख्य उपाय बताये गये हैं - अनुपाय, शाम्यवोपय, शाक्तोपाय और आगवोपाय। इन उपायों से मल के निरस्त होने से साधक अनुग्रह की प्राप्ति के योग्य बनता है।

अनुपाय अनुग्रह पर आश्रित है। गुरू के एक शब्द मात्र से शक्तिपात हो सकता है और साधक को ऐसा प्रकाश मिल सकता है जिससे क्षण भर में उसे आत्म साक्षात्कार हो जाय या प्रभु के अनुग्रह की उस पर सीधे प्रकाश पड़ सकता है जिससे उसे तत्काल आत्म साक्षात्कार हो जाय। अनुपाय के संकुचित अर्थ में अनुपाय का भाव है, साधक के द्वारा नाममात्र का प्रयत्न। इन दोनों ही अर्थों में अनुपाय का भाव तीव्रतम शक्तिपात के द्वारा साक्षात्कार है। कभी-कभी सिद्ध पुरूष के दर्शन मात्र से प्रकाश मिलने के कारण वह रूपान्तरित हो जाता है। अनुपाय को साधारणतः आनन्दोपाय कहा जाता है। आणवोपाय में साधक करणों का उपयोग आत्म साक्षात्कार के लिये करता है। इसमें प्राणायाम, इष्टदेव की पूजा आदि साधनों का प्रयोग होता है। अन्ततः मध्यधाम के उन्मीलन से आत्म साक्षात्कार होता है। इसको क्रियोपाय भी कहते हैं क्योंकि क्रिया, जैसे किसी मंत्र का जप, पूजा आदि, इस साध ना का प्रधान अंग है। इसे भेदोपाय भी इसलिये कहते हैं कि यह साधना भेद के आधार पर प्रतिष्ठित है। शाक्तोपाय मानसिक साधनों पर प्रतिष्ठित है जिनसे इन मानसिक शक्तियों का विकास होता है जिससे साधक समावेश लाभ करता है। इस उपाय में मंत्रशक्ति का उपयोग होता है जिससे साधक को प्रतीयज्ञान हो जाता है। उसका द्वैतभाव क्रमशः कम होने लगता है और उसकी चेतना परासंवित् में निमग्न

हो जाती है। इस साधना में "मैं" शिव हूं, विश्व मेरे आत्मा का प्रसार है" - इस प्रकार की भावना करनी पड़ती है।

आणवोपाय में इन्द्रियां, प्राण और मन की साधना करनी पड़ती है। शाक्तापाय मुख्यतः मन की साधना है। इस शाक्तोपाय को ज्ञानोपाय भी कहते हैं। क्योंकि इसका मुख्य अंग मानसिक साधन है। इसको भेदाभदोपाय भी कहते है, क्योंकि इसमें भेद बुि और तादात्म्य बुि दोनों का प्रयोग है। इस उपाय से, बिना विशेष प्रयास के कुण्डलिनी जाग्रत होकर मूलधार से उपर की ओर उठती है और आत्म साक्षात्कार सम्पन्न कर देती है। शाम्भवोपाय उन्नत साधकों के लिये है जो शिव तत्व का निदिध्यासन करने से शिव-चेतनायुक्त हो जाते हैं। यह एक अनवरत अभिज्ञता और जागरूकता का मार्ग है। इसमें साधक पहले पंचकृत्य पर मनन करता है, फिर विकल्पक्षय की साधना करता है और इस विचार पर मनन करने का अभ्यास करता है कि विश्व केवल चित् का प्रतिफलन है। अन्ततः वह इन साधनों का भी परित्याग कर देता है और शुद्ध, अकृत्रिम अहं विमर्श को प्राप्त करता।

क्षेमराज कहते हैं कि मध्य के विकास से चिदानन्द को लाभ होता है। उपर्युक्त तीनों उपायों की दृष्टि से मध्य का भाव अलग-अलग है। आणवोपाय की दृष्टि से मध्य सुषुम्ना नाड़ी है जिसका विकास करना है। शाक्तोपाय की दृष्टि से मध्य परासंविद् है जिसे प्राप्त करना है। शाम्यवोपाय की दृष्टि से मध्य शुद्ध, अकृत्रिम अहं है जो कि सब कुछ का मध्य या केन्द्र है। इन तीनों उपायों से मध्य को ही प्राप्त करना है।

"मध्य विकासाच्चिदानन्द लाभः"[79]

चित् शक्ति ही मध्य है क्योंकि यही सब कुछ के अन्तरतम रूप में विद्यमान् है, क्योंकि और किसी का स्वरूप ही सम्भव नहीं है जब तक कि वह संवित् रूप आश्रय से न लगा हो। इस प्रकार की होती हुई भी संवित् ने मायादशा में अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाते हुये पहले संवित् प्राण में परिणम हुई। प्राण शक्ति भूमि को स्वीकार करके अवरोह क्रम से बुद्धि देह इत्यादि भूमियों में रहती हुई सहस्त्र नाड़ी के मार्ग का अवलम्बन किया। वहां भी वह मुख्यतः मध्यम नाड़ी के रूप में स्थित है जिसका आश्रय प्राणशक्तिरूपी ब्रह्म है, क्योंकि सभी चित्तवृत्तियों का वही से उदय होता है और वही लय होता है। इस प्रकार होते हुये भी वह पशुओं के लिये अपने स्वरूप को छिपाये हुये है। जबकि सबके अन्ततम में मध्य रूप से रहने वाली संवित् का पहले कहे हुये मुक्ति के क्रम से अर्थात् पंचकृत्य के अभ्यास से विकास होता है, तब उसके विकास से उक्त रूप चिदानन्द का लाभ या प्रप्ति होती है। मध्य

के विकास के लिये क्षेमराज ने विकल्पक्षय, शक्तिसंकोच, शक्ति विकास वाहच्छेद और आद्यन्तकोटि के अभ्यास की अनुशंसा की है। "विकल्पक्षय-शक्ति संकोच विकासवाहच्छेवाद्यन्त कोटिनिमालनादय इहोपाया:"[80]

इनमें से विकल्पक्षय षाप्यवोपाय है, शक्ति संकोच, शक्ति विकास शाक्तोपाय है और वाहच्छेदे और आद्यन्तकोटिनिजालन आवणवोपाय है। यह प्रत्यभिज्ञा दर्शन पंचकृत्य के मनन और विकल्पक्षय के अभ्यास को अत्यन्त गुरूत्व प्रदान करता है। इसका मत है कि शिव का पंचकृत्यसृष्टि, स्थिति, संहार, विलय और अनुग्रह - जीव में भी सदा चलता रहता है। उच्च चेतना की प्राप्ति के लिये साधक को पंचकृत्य के गुह्यभाव पर सदा मनन करना चाहिये। जीव नियत देश काल आदि में नील इत्यादि का जो प्रत्यक्ष करता है वह सृष्टि है। नील आदि आभास का नैरन्तर्य स्थिति है। अहं भाव के आनन्द विमर्शन के समय उस आभास का संहार है। जब संहत होने पर भी संस्कारवश उसका आभास होने लगता है, तब विलय की दशा है। तब हठपाक क्रम से वह चित् में विलीन हो जाता है, तब अनुग्रह की दशा है। इस अभ्यास से साधक शुद्ध चिदानन्द का अधिकारी होता है।

एक अन्य विधि विकलपक्षय की है। चित्त नाना प्रकार के वृत्तियों का आखेट स्थल है जो कि एक-दूसरे के बाद समुद्र पार लहर के समान उठती रहती है। इन वृत्तियों के पीछे शान्त चेतना का जो स्तर है उसका हमको पता भी नहीं होता। विकल्प क्षय का अभ्यास क्षोम से मुक्त होने और उस अद्यःस्थ चेतना की प्राप्ति के लिये बतलाया गया है जिसके उपरी तल पर विकल्प विहार करते रहते हैं। यह उपलब्धि हठात् नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तियों के हठपूर्वक विरोध से केवल प्रतिरोध खड़ा होता है। यह स्थिति केवल निश्चेष्ठता द्वारा, अकिंचिच्चिन्तकत्व सहित सावधानता द्वारा प्राप्त हो सकती है। इन साधनों के द्वारा समावेश की प्राप्ति होती है। इस समोवश को समग्र और परिपूर्ण और स्थायी करने के लिये क्रम मुद्रा की साधना करनी पड़ती है। इस क्रम मुद्रा द्वारा जीव की चेतना का सर्वाव्यापी चेतना से तादात्म्य के अनुभव को जगत् के अनुभव में भी समन्वित करना पड़ता है। यह दर्शन उस समावेश को पूर्ण नहीं मानता जो केवल समाधि की अवस्था में रहता है और व्युत्थान में लुप्त हो जाता है। इस दर्शन की धारणा यह है कि वही पूर्ण समावेश है जो व्युत्थानदशा में भी अविचलित रहता है और जिसके द्वारा जगत् केवल मृण्मय नही प्रतीत होता, बल्कि दिव्य प्रकाश के परिधान से समलंकृत दिख पड़ता है। वह सर्वव्यापी चेतना की अभिव्यक्ति प्रतीत होता है और स्वयं साधक भी यही अनुभव करता है कि मैं भी वही चेतना हूं। तब जगत् परिहार का विषय न रहकर जगदानन्द का विषय बन जाता है। तब वास्तविक अकृत्रिम अहं विमर्श का उदय होता है

जिसमें जगत् प्रतियोगी की भांति नहीं बल्कि अहं की अभिव्यक्ति की भांति प्रतीत होता है। कश्मीर शैव दर्शन में जीवन्मुक्ति की यही अवधारणा स्वीकार की गयी है। इस विश्व का प्रादुभार्व शिव के शुद्ध अहं विमर्श से होता है। मनुष्य की अवस्था में उस अहं विमर्श का तादात्म्य अन्न-प्राण मनोमय कोषो से हो जाता है और जगत् उस अहं का सर्वथा प्रतियोगी प्रतीत होता है। मनुष्य का यह पुरूषार्थ है कि वह उस अहं विमर्श को पुनः प्राप्त करे जिसमें अहं और इदं एक ही है। इस अवस्था को एकाएक नहीं प्राप्त किया जा सकता है। प्रमाताओं का उच्चावच स्तर है। विवर्तन क्रिया में मानव क्रमशः माया प्रमाता की अवस्था में उपर उठते हुये शिव के शु; अहं विमर्श की अवस्था को पहुंच जाता है।

सामान्य जीव को सकल कहते हैं। उसमें कार्य, मायीय और आणव तीनों प्रकार के मल पाये जाते हैं। कई जन्मों के अनन्तर जिसमें कि वह भौतिक और मानसिक शक्तियों के वशीभूत होकर नाना प्रकार के कृत्य करता रहता है, वह एक मानसिक व्यथा से ग्रस्त हो उठता है जिसके कारण वह जीवन को "कहां से" और "किधर" जानने की चेष्टा करता है। यह शिव के अनुग्रह की प्रथम अभिव्यक्ति है। इस समय यदि वह पर्याप्त रूप से सावधान नहीं रहता और अवाच्चनीय प्रकार के योग का अभ्यास करता है, तो वह प्रलयाकल हो जा सकता है। प्रलयाकल कार्यमल से मुक्त उसमें केवल मायीय और आणवमल होता है, किन्तु उसमें न ज्ञान होता है और न क्रिया। यह वाच्छनीय अवस्था नहीं है। प्रलय के साथ प्रत्येक सकल "प्रलयाकला" की जाता है। विज्ञानाकल एक अधिक उच्च अवस्था का साधक है वह मायासे ऊपर उठ गया है, किन्तु शु; विद्या के नीचे है। वह कार्य और मायीय मल से मुक्त है किन्तु क्रिया नहीं होती है। इस विज्ञानाकल के उपर मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्रमहेश्वर और शिव प्रमाता होते हैं जिनमें उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है। ये सभी मलों से मुक्त होते है, किन्तु इनमें एकत्व चेतना का न्यूनाधिक मात्रा में अनुभव रहता है केवल शिव प्रमाता को प्रत्येक वस्तु शिव ही प्रतीत होती है।

शु; अहं चेतना अथवा विमर्श की सारी सृष्टि प्रक्रिया का उद्गम स्थल है। शिव की शु; अहं चेतना से ही तिरो-भाव प्रारम्भ होता है। आविर्भाव पुनः उसी शु;-चेतना की ओर पहुंचता है। इस प्रकार जीव पथिक अहं रूपी स्वदेश को अद्भुत वैभव के अनुभव से समृद्ध होकर लौट आता है। एक-एक करके आवरण हटता जाता है और अन्ततः वह परमतत्व के हृदय में स्थित हो जाता है। अब उसके मुख से अभिनवगुप्त के शब्दों में यह उद्गार निकल पड़ता है -

स्वतंत्र स्वच्छ आत्मा स्फुरति सततं चेतसि शिवः
पराशक्तिश्चेयं करण सरणि प्रान्त मुदिता।[81]

तदा भोगैकात्मा स्फुरति च समस्त्रं जगदिदम्।
नजाने कुत्रागं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति।।

स्वातन्त्रय से परिपूर्ण स्वच्छास्वरूप शिव ही मेरी चेतना में सदा स्फुरित होता रहता है। पराशवित ही मेरे इन्द्रियों के प्रान्त में क्रीडा करती रहती है तो फिर यह समस्त जगत् शुद्ध अहं चेतना के चमत्कार से स्फुरित होता रहता है। न जाने कहां से इस संसार की ध्वनि मेरे कानों में पड़ जाती है। इस प्रकार से कश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष के स्वरूप को अहं चेतना की अनुभूति को स्वीकार किया गया है। यही प्रत्यभिज्ञा का वास्तविक स्वरूप है जिसकी अनुभूति से साधक को मोक्ष प्राप्त हो जाता है। यह जीव और प्रतिप्रमाता में स्वरूपगत अभेद को स्वीकार किया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि जीव और शिव में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है तो इस अन्तिम चरण में शिव के साथ समानता प्राप्त करने की आवश्यकता को अभिव्यक्त करने का क्या प्रयोजन है? इससे स्पष्ट है कि स्वरूपगत अभेद होने पर भी पुरूप किसी बात में शिव से न्यून है। इसी बात पर प्रकाश डालते हुये स्पन्द कारिका में कहा गया है-

निजशुद्धया समर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।[82]
यदाक्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्पस्पदम्।।

अपने ही स्वात्न्त्र्य से उत्पादित सहज मल के द्वारा असमर्थ बने हुये और संसार के वासनात्मक कर्तव्यों की अभिलाषाओं में पड़े हुये, मित प्रमाता का क्षोभ, जब स्वरूप में ही लीन हो जाये तब उसको परमपद प्राप्त होता है। इन अभिलाषाओं के कारण आत्मबल का पूर्ण स्पर्श नहीं होने पाता है। परन्तु जब इनका देहादि पर "अहं" अभिपानमूलक विकल्प परम्परा, स्वरूप में हीं लीन हो जाये, तब यह सर्वोत्कृष्ट पदवी पर प्रतिष्ठित हो जाता है ये दोनों रूप वास्तव में एक ही स्वतंत्र सत्ता के पूर्ण स्वतंत्र और "संकुचित स्वतंत्र" रूपान्तर मात्र हैं। यदि "पति" अग्नि का बड़ा सा ढेर है तो "पशु" उसी की एक छोटी सी चिंगारी है। वह अनुपम अभिनेता शिव स्वयं ही महान् और स्वयं ही लघु है। परमेश्वर संसार भाव को, अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने की ओर संकल्पात्मक उन्मुखता के समय अपनी स्वान्त्र्य शक्ति को माया शक्ति का रूप देकर, उससे जनित स्वात्मविस्मृति रूप अख्याति के द्वारा अपने वास्तविक असीम रूप को भूलाकर, ससीम पशु का रूप धारण करता है। इसी को अभेद व्याप्ति को भूलकर भेद व्याप्ति का ग्रहण करना

कहते हैं। इस प्रकार अख्याति भी प्रतिप्रमाता की स्वयं ही उत्पादित अशुद्धि है।

शैव शास्त्रों में "स्वातन्त्र्य" शब्द और "चैतन्य" शब्द पर्यायवाची हैं। इन दोनों शब्दों से ज्ञान और क्रिया के स्वतंत्र कर्तृत्व का अभिप्राय लिया गया है। स्वतंत्र आत्म निर्भरता की स्वरूप भूता पूर्णज्ञातृता और पूर्णकर्तृता की अहंविमर्श मयी विश्वात्मक स्फुरणा का ही शैव शब्दों में स्वातन्त्र्य, चैतन्य या आत्मा आदि नाम दिये गये हैं। परमेश्वर के विश्वात्मक रूप में ज्ञान क्रियामयी चेतने की क्रिया का पूर्ण अधिकारात्मक और अनन्यमुखापेक्षी कर्तृत्व यही ही पूर्ण स्वातन्त्र्य अथवा पारमेश्वर ऐश्वर्य हैं। यह कर्तृत्व अथवा ज्ञातृत्व ऐसा है कि शाश्वत रूप में सत्तावान होकर किसी भी देश काल इत्यादि की संकुचित परिधि में सीमित नहीं है। विश्वात्मा प्रत्येक बात को जानने या करने में स्वतंत्र है। इसी स्वातन्त्र्य को शैव दर्शन में सतत् स्पन्दमयी संवित् भी है। प्रकाश अर्थात् शिव ही बहिर्मुख दशा में विमर्श अर्थात् शक्ति ही अन्तर्मुख दशा में प्रकाश अर्थात् शिव है। अहं ही इदं का बीजरूप और इदं ही अहं का विकसित रूप है। शिव में समस्त जगत् अभेद रूप में अवस्थित है और सारा जगत् ही शिव का प्रसार है। ऐसी चिति कर्तृतारूप स्वातन्त्र्य की गति में कहीं कोई अवरोध नहीं हो सकता है और इसी कारण विश्वात्मा स्वयं उत्पादित अशुि; के द्वारा अपने ही स्वरूप को भागषः आवृत्त करके संसारी जीव का और पूरा आवृत करके सारे जड़ वर्ग का रूप धारण करके अवस्थित है। स्वरूप का अज्ञान ही एक ऐसी महान अशुि; है जिसने विश्वात्मा को भी विश्वात्म भाव से गिराकर पशुभाव के चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस अज्ञान के स्वरूप के विषय में चन्द्रमौलि ने कहा हैं - "ज्ञान बन्धः"।[83]

अज्ञान का अभिप्राय सर्वथा ज्ञानाभाव नहीं, अपितु वास्तविक स्वरूप का अपूर्ण ज्ञान है। अज्ञान स्वतंत्र शक्ति के द्वारा अपने ही स्वतंत्र स्वरूप को छिपाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संसार भाव को अवभासित करने की ओर उन्मुख हो जाने पर वह चैतन्य तत्व स्वतंत्रता से अपनी अभेद व्याप्ति को भूलकर भेद व्याप्ति को ग्रहण करता है। यह विश्व भेदरहित स्वतंत्र सागर में "अहं" रूप में अवस्थित रहने पर भी इसको स्वरूप से भिन्न "इदं" रूप में अवभासित करने की सूक्ष्म अभिलाषा थी उस स्वरूप स्वातन्त्र्य से ही उदित हो जाती है। इस अभिलाषा से ही अपूर्णता से ही अपूर्णता की सर्वप्रथम अनुभूति होती है। इस अपूर्णता की अनुभूति आणव, मायीय और कार्य इन तीन रूपों में अभिव्यक्त होती है। इस प्रथम सूत्र में कहा गया है कि प्रत्येक प्रकार का क्षोभ निलीन हो जाते पर मित प्रमाता शिव भाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि उस अवस्था में आत्म में किसी भी प्रकार की स्फुरण नहीं रहती है और फलतः यह तरंगही सागर की भांति शान्त

हो जाता है। यदि ऐसी बात है तो पूर्वोक्त स्पन्दात्मक स्वरूप कैसे सिद्ध हो सकता है? इस शंका का निवारण करते हुये कहते हैं -

तदास्याकृत्रिमों धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्व लक्षणः[84]
यतस्तदीप्सितं सर्व जानाति च करोति च।।

क्षोभ के विलीन हो जाने पर इसका स्वभाव सि; ज्ञातृता और कर्तृता रूप धर्म, निरावृत रूप में प्रकट हो जाता है। अतः वह उस आत्मबल का स्पर्श प्राप्त करने के बाद तत्क्षण ही जो बाते जानना चाहता है उनको जानता है और करता है। इसके प्रतिकूल संसारी अवस्था में यह बात कदापि सम्भव नहीं है। शान्त ब्रह्मवादियों के अनुसार परम ब्रह्म का स्परूप शान्त या निः स्पन्द है। इसका अभिप्राय यह है कि परब्रह्म प्रकाश रूप का स्वरूप शान्त या निःस्पन्द है। इसका अभिप्राय यह है कि परब्रह्म प्रकाश रूप हो या न हो परन्तु उसमें विमर्श का सर्वथा अभाव है। कहते का तात्पर्य यह है कि ये लोग परब्रह्म को चेतन मानते हुये भी उसको शान्त निस्तरंग बताकर उदासीन बना देते हैं। इस प्रकार की अनुत्तर तत्व की शक्तिहीनता प्रत्यभिज्ञा दर्शन को मान्य नहीं है। उसके अनुसार पूर्ण, स्वतंत्र होने के का कारण वह तत्व युगपत ही निस्तङ्गवृत्ति और तरङगायमान् रूप में भी प्रकाशमान है। निस्तरङ गहीनता से शक्तिहीनता का अभिप्राय नहीं बल्कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियों की सामान्यावस्था का अभिप्राय है। शान्त होने का अभिप्राय यही हो सकता है कि वह परमतत्व विश्वोत्तीर्ण और विश्व की सारी अवस्थाओं और वैचित्र्यों को स्वेच्छापूर्वक सत्ता प्रदान करने पर, असीम विश्वोत्तीर्ण और विश्व की सारी अवस्थाओं और वैचित्रयों को स्वेच्छापूर्वक सत्ता प्रदान करने पर, असीम सामर्थ्यशाली होने के नाते, स्वयं कभी भी सुखःखादि द्वन्द्वो से अभिभूत नहीं हो सकता है।

शैवमतानुसार अहंप्रत्यवमर्शात्मक शिव में शावत रूप में विमर्शात्मक स्पन्द की लहरें उठती रहती है क्योंकि ज्ञान चैतन्य होने के नाते कभी भी निष्क्रिय नहीं हो सकता है। अनुत्तर तत्व सर्वज्ञ और सर्वकर्ता होने के नाते कभी भी साक्षी बनकर नहीं रहता है। वह स्वयं स्वतंत्र होकर सब कुछ जानता भी है और करता भी है, अतः वह उदासीन या निश्चेष्ट नहीं है यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संसार के अणुवर्ग में पाया जाने वाला देहदि के प्रति ममत्वभीतो विश्वशरीरी भगवान् की ही स्फुरणा है। अतः वह जड़ या उदासीन नहीं है। यदि भगवदनुग्रह पशु हृदय में एक बार ही यही अनुभूति जागृति हो जाये कि में देहादि का सत्ताभूत संवित् स्वरूप ही हूं और सारा विश्व मेरा ही विभाव है, अतः मैं जानने और करने में सदा स्वतंत्र हूँ" तो उसके सारे पाश स्वयं ही खुल जाते है, वह पशु प्रभातृ भाव से ऊपर उठकर अकृत्रिम ज्ञातृत्व

और कर्तृत्व का अधिकारी बन जाता है। इसी को शास्त्रों में "आत्मबल का स्पर्श" कहते हैं। इस स्पंद तत्व के प्रतिपादन के पश्चात् अगले सूत्र में सूत्रकार द्वारा यह समझाया जा रहा है कि अभ्यास की दृढ़ता प्राप्त होने से, योगी को अपने में ही उस स्पन्दशक्ति की अनुभूति हो जाती है, जिससे उसको पशु योंनियों में भटकते रहने से छुटकारा मिल जाता है।

तमधिष्ठातृभावेन स्वभावमवलोकयन्।
स्मयमान इवास्ते यस्तरस्येयं कुसृतिः कुतः।।[85]

जो साधक स्पन्दात्मक आत्म की ही, विश्व के कण-कण में अनुस्भूत रहने वाली मुख्य सत्ता के रूप में साक्षात्कार करता हुआ, विस्मय की जैसी मुद्रा में अवस्थित रहता है, वह इस आवागमन में कैसे पड़ सकता है? शाक्त भूमिका पर आरूढ़ योगी संसार का सारा कार्य-कलाप करते-करते ही, संसार के तुच्छातितुच्छ पदार्थों में भी स्वभावभूत स्वन्दरूपता के प्रसार एवं विकास को अनुभव करने का निरन्तर अभ्यास करता रहता है। धीरे-धीरे अभ्यास की परिपक्वता से उसकी भावनायें तुच्छ शरीर आदि पर आत्माभिमान् रखने की संकुचित परिधियों से निकलकर पूर्ण, "अहं विमर्श" पर आरूढ़ हो जाती हैं, ऐसी अवस्था में उसकी चित् रूपता पर विद्यमान् मायीय आवरण स्वयं ही हट जाता है जिससे चातुर्दिक प्रकाश मुखरित हो उठता है और उसकी आत्मा शरीर में रहते हुये भी "तुर्यावस्था" का साक्षात्कार कर लेती हैं। उसके लिये सत्य के मार्ग खुल जाते है और वह भैरव भूमिका पर आरूढ़ होने का अधिकारी बन जाता है। प्रत्येक अवस्था और प्रत्येक स्थान पर अपनी ही चित् रूपता की वास्तविक व्यापकता का यथार्थ अनुभव करने से उसको विश्व की सारी भाङ्गियां, किसी जलाशय की उठने वाली तरंगों या सौर मण्डल से निकलने वाले प्रकाश पुञ्ज की तरह स्वरूप के ही बहिर्मुख विकास के रूप में प्रतीत होती हैं। अनुभूति के इस स्तर को शाक्त भूमिका में प्रविष्ट होने की भूमिका कहा जाता है। इस भूमिका का साक्षात्कार हो जाने पर साधक में ज्यों-ज्यों इस भाव पर स्थित रहने की क्षमता में वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों उसको कई ऐसी भूमिकायें अनुभव में आ जाती हैं जो तुरीयातीत दशा पर शीघ्र आरून्द होने की पुर्व सूचना दे देती है। तुरीया भूमिका पर शास्वन्त सिथिरता प्राप्त करना ही भूमिका पर आरूढ़ होना होता है।

योगी को शाक्त भूमिका का साक्षात्कार होते ही, उसके प्रति एक प्रकार की अतृप्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे वह बार-बार अन्तर्मुख होकर उस आनन्द सागर में डुबकियां लगाने लगता है। ऐसे समय पर उसके अन्तस में एक विशेष

प्रकार की आश्चर्य मानता की दशा उदित हो जाती है जो उसको बार-बार अन्तर्मुख हो जाने की ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विस्मयात्मक योग भूमिका साक्षात् तुरीयारूप होने के कारण सबसे उत्कृष्ट और स्वानुभवगम्य है। जब कोई मनुष्य किसी विशेष अतिषय से युक्त वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है तो उसके मन में एक प्रकार की विचित्र वृत्ति का उदय होता है। उस समय वह वस्तु को अन्य वस्तुओं से विशिष्ट, आकार प्रकार को कौतुहलपूर्ण, नेत्रों में देखता हुआ भी वाणी के द्वारा कुछ अभिव्यक्त नहीं कर सकता है। उस समय उसकी अन्तः चेतना, उसी वस्तु के अनन्य एवं अद्‌भुत सौन्दर्य का आन्तरिक रूप में ही आनन्द लेती हुई एक ऐसी अकथनीय अवस्था में डूब जाती है जिसको "विस्मय" या "आश्चर्य मानता" कहते हैं। ठीक इसी प्रकार स्वात्मनिष्ठ साधक की भी बार-बार शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के समान स्पन्दमयी अहन्ता में विश्रान्त हो जाने के अवसरों पर, अनिर्वचनीय अतिषयता से मुक्त और नव-नव चमत्कार से पूर्ण स्वरूप समावेश का उदय हो जाता है। उस समय उस के अन्तस् में, स्वरूपभूत करणेश्वरी चक्र के विकसित वैभव की अनुभूति प्राप्त कर लेने से कोई ऐसी आन्तरिक दशा उदित हो जाती है कि वह बार-बार उस स्वरूप समावेषमय आनन्द का, अतृप्तरूप में, अनुभव करता हुआ "आश्चर्य मानता" से सराबोर हो जाता है। इस आश्चर्य मानता के प्रारम्भिक रूप को "साश्चर्य स्पन्दरूपता" कहते हैं। इस दशा के उदित हो जाने के बाद ही साधक विकल्पहीन तुर्यातीत दशा पर प्रतिष्ठित होने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इस दशा का उदित होना ही इस बात का सूचक होता है। कि ऐसे योगीश्वर की आत्मा, पञ्च कंचुक की सीमाओं को लांध कर, भेद रहित विश्वात्मभाव के उन्मुक्त आकाश में विचरण करने लगती है, और वह अपने ही चिन्मात्र रूप को सर्वत्र उपलब्ध्या के रूप में अनुभव करने लगती है। ऐसी मुक्तात्मा के लिये कभी भी आवागमन के बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि यदि एक बार पिंजरे का द्वार खुल गया तो फिर पिंजरे का बन्दी बनेगा, ऐसी कल्पना करना व्यर्थ है। तुर्यावस्था तर पहुंचा हुआ बार-बार उस आनन्द का अनुभव करने के लिये अन्तर्मुख हो जाता है। इस अवस्था को "क्रममुद्रा" कहते हैं। क्रममुद्रा नित्योदित समाधि को कहते हैं। इस अवस्था में साधक अन्तर्मुख अवस्था के अतिरिक्त बहिर्मुख अवस्था में भी चित् रूपता में समाविष्ट ही रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि क्रममुद्रा समाधि की ऐसी परिपक्व अवस्था होती है कि साधक स्वरूप समावेश के बल से, सहज रूप में, बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता में और अन्तुर्मुखता से बहिर्मुखता में विद्युत गति से प्रवेश कर सकता है। ऐसा करने में उसको कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है क्योंकि निनन्तर अभ्यास के द्वारा यह उसका स्वभाव बन जाता

है। अपरिपक्व समाधि में समाधि काल तक ही स्वरूप की अनुभूति होती है परन्तु इसमें ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही रहता है। यही कारण है कि सिद्ध पुरूषों ने ऐसी समाधि को "स बह्मम्यन्तर समावेश" की संज्ञा दी है। इस अवस्था पर पहुंचा साधक व्युत्थान दशा में भी उन्हीं समाधिकालीन संस्कारों के द्वारा प्रत्येंक वेद्यपदार्थ में मात्र चिन्यमता के ही आभास को प्राप्त करने के कारण, दोनों अवस्थाओं में स्वरूपनिष्ठ ही होता है।

इस द्विमुखी समाधि को शास्त्रकारों ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है - "शाक्त भूमिका पर पहुंचा हुआ योगी "निमीलन" समाधि के द्वारा, बहार के इदन्तारूप भाववर्ग को सामान्य स्पन्द में ही विश्रान्त करता हुआ पराचित् भूमिका में प्रवेश करता है। वहां स्वरूप साक्षात्कार करके "उन्मीलन समाधि" के द्वारा "अहन्ता" में विश्रान्त किये हुये भाववर्ग को बाहर की ओर वमन करता हुआ फिर भी इदन्ता के क्षेत्र में प्रवेश करता है। इस अन्तः प्रवेश और बहिः निर्गमन की प्रक्रिया में यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने के योग्य है कि ऐसे पद पर पहुचे हुये योगी को दोनों ही अवस्थाओं में स्वरूपभूत सामान्य स्पन्दात्मकता काही विकास अनुभव में आता है।" क्रममुद्रा शब्द के दो भाग हैं - क्रम और मुद्रा। इनमें से क्रम शब्द से संवित् रूप में ही सृष्टि, स्थिति और संहार के क्रम का और "मुदा" शब्द से मुद्रित करने का अर्थात् स्वरूप में ही विश्रान्त करने का अर्थ लिया जाता है। फलतः क्रममुद्रा स्वतः तुरीयारूपा होने के कारण प्रत्येक प्रकार के क्रम को, ग्रास करने के क्रम से स्वरूप में ही विश्रान्त कर लेती है। इसके अतिरिक्त "क्रममुद्रा" शब्द से यह अभिप्राय भी लिया जाता है कि यह एक नित्य उदित समाधि की दशा होने के कारण अन्तः रूप में या बाह्य रूप में उत्पादित पाशों को काट लेती है और सारे बाह्य अवभास का आभ्यन्तर तुरीया सत्ता में मुद्रित कर लेती हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि स्पन्दशास्त्र में जो शाक्त भूमिका एवं क्रममुद्रा का विवेचन किया गया है। उस मार्ग का अनुसरण करके साधक अपने वास्तविक स्वरूप जो अहं विमर्शात्मक रूप है, उसका साक्षात्कार कर लेता है। इस वास्तविकता की अनुभूति ही साधक को मोक्ष प्रदान कर देती है तथा वह इस अवस्था में अहं इदं में अभेद का अनुभव करता हुआ समस्त चराचर जगत् को शिवमय ही देखता है। यही मोक्ष का वास्तविक स्वरूप है तथा शाक्त भूमिका को प्राप्त करने वाला साधन ही क्रममुद्रा की अवस्था में पहुंचकर इस अहं की अनुभूति कर पाता है।

पंचम अध्याय

तुलनात्मक विचार एवं निष्कर्ष

ईश्वराद्वयवाद एवं अद्वैतवाद का तुलनात्मक अध्ययनः- पूर्वगामी विवेचन में हमने देखा कि अद्वैत वेदान्त एवं कश्मीर शैव दर्शन दोनों ही अद्वैतवादी है और दोनों ही अपनी-अपनी परम्परा में सर्वोच्च महत्व रखते हैं। दोनों दर्शनों में जीव, जगत, माया के स्वरूप, ब्रह्म एवं शिव के स्परूप, बन्धन एवं मोक्ष की अवधारणा इन बिन्दुओं पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दोनों ही अपने-अपने ढंग से अद्वैत मत की स्थापना करते हैं। अतः इन बिन्दुओं का एक तुलनात्मक विवचेन प्रस्तुत है।

अद्वैत वेदान्त में कहा गया है कि जब आत्मा अविद्या से युक्त होती है तो वह जीव के रूप में प्रतीत होने लगता है। इस जीव भाव का प्रादुर्भाव एक प्रकार के भ्रम के कारण होता है, जिसे अद्वैत वेदान्त में अध्यास का नाम दिया गया है। इस अध्यास की स्थिति में आत्म एवं अनात्मक दोनों का एक ऐसा सम्मिश्रण होता है जिसमें आत्मा पर अनात्मा के धर्मों का आरोप हो जाता है तथा जीव आत्म तत्व होते हुये भी अपने को अनात्म रूप में समझने लगता है तथा अनात्म के धर्मों को अपने ही धर्म के रूप में स्वीकार कर लेता है, यही अध्यास की स्थिति होती है, जिसमें जीव भ्रमित हो जाता है तथा अपने का कर्मों के फलों का भोक्ता तथा बन्धन से युक्त समझता है। यह बन्धन तब तक चलता रहता है जब तक जीव अपने वास्तविक स्वरूप-आत्मतत्व का साक्षात्कार नहीं कर लेता। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में जीव अज्ञान से या अविद्या से युक्त माना गया है। इस अज्ञान का आरोप बुद्धि में ही होता है। आत्मा तो निष्क्रिय होती है, जो नित्यमुक्त है। इस आत्म तत्व को

अविद्या के द्वारा आवरित हो जाना ही जीव दशा है। जबकि पारमार्थिक द्रृटि से जीव ब्रह्म ही है दोनों में अभेद हैं। कश्मीर शैव दर्शन में जीव के स्वरूप का वर्णन करते हुये कहा गया है -

"तद्वत्तच्छक्ति संकोचात् मलावृतः संसारी"[86]

जो चित् स्वरूप है वह शक्ति के संकोच से मल से ढंका हुआ संसारी बन जाता है। जब परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से अभेद को लीन करके भेद का अवलम्बन करता है तब उसकी इच्छा तथा अन्य शक्तियां स्वभावतः असंकुचित होते हुये भी संकुचित जैसी लगने लगती है, तब यह जीव मल से ढका हुआ संसारी बन जाता है। इच्छाक्ति ही संकुचित होकर आणवमल बन जाती है जिसके द्वारा जीव अपने को अपूर्ण मानने लगता है। ईश्वरद्वयवाद यह स्वीकार करता है कि शिव ही जीव रूप से अवस्थित होता है, क्योंकि इस दशा में भी उसी शिव के समान जीव में भी पंचकृत्य होता रहता है। शिव ही व्यवहार दशा में देह इत्यादि में प्रवेश कर अपने भीतर प्रकाशमान अर्थ समूह को अपनी इच्छा से बाहर व्यक्त करते हैं। यह पंच कृत्य सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय एवं अनुग्रह क्रिया है। इस प्रकार शिव की अभिव्यक्ति सत रूप में ही जीव के रूप में होती है। यहां अद्वैतवाद की तरह किसी अध्यास को न मानकर उस शक्ति के संकोच को ही स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त एवं कश्मीर शैव दर्शन में जीव के स्वरूप में मुख्य अन्तर यह है कि जहां अद्वैतवाद में जीव दशा में आत्मानिश्क्रिय रूप में होता है तथा क्रिया केवल बुद्धि में होती है, वहीं जीव दशा में भी ईश्वराद्वयवाद शिव के पंचकृत को स्वीकार करता है। अद्वैतवेदान्त अविद्या को जीव का कयून मानता है तो कश्मीर शैव मल को जीवदशा का कारण स्वीकार करता है। दोनों दर्शनों में जीव के स्वरूप के संबंध में पारमार्थिक अभेद की दृष्टि से स्थिति में समानता प्रतीत होती है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जीव की स्थिति में भेद प्रतीत होता हैं। अद्वैतवाद में जीव को अपने वास्तविक स्वरूप का अज्ञान होता है, जब कि कश्मीर ईवराद्वयवाद में पूर्ण ज्ञान का अज्ञान जो संकुचित ज्ञान है, उसे जीव के संसारी होने का कारण माना गया है। अद्वैत वेदान्त में जगत् को ब्रह्म का आभास कहा गया है, जो माया से आवरित हो जाने के कारण यह जगत् आभासित होता है। इस जगत् को मिथ्या कहा गया है।

"ब्रह्म सत्यम् जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव ना परः"[87]

अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, यह जगत मिथ्या है तथा जीव एवं ब्रह्म का पारमार्थिक अभेद है। इस सूत्र में जगत् के मिथ्यात्व को स्वीकार किया गया है। जगत् का यह मिथ्यात्व पारमार्थिक दृष्टि ही है, न कि व्यावहारिक दृष्टि। यह जगत्

जब तक हमारे अनुभव में है तथा उपयोगी है तब तक व्यवहारिक दृष्टि से शंकराचार्य ने इसे मिथ्या नहीं कहा है बल्कि ब्रह्मज्ञान के पश्चात् इस जगत के मिथ्यात्व का वर्णन किया गया है। यह जगत् उस प्रकार का असत् नहीं है जो नितान्त असत् के रूप में स्वीकार किया जाता है, जैसे - आकाश कुसुम आदि हैं। यह असत् कहने का दृष्टिकोण पारमार्थिक है, व्यवहारिक नहीं। यह जगत् ब्रह्म का ही आभास है। इसलिये इस आभासित जगत् का ज्ञान उसी को हो सकता है जो ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है। उसी के लिये इस जगत के मिथ्यात्व का अर्थ है। कश्मीर शैव दर्शन में इस जगत् को शिवरूप कहा गया है। इस जगत् को शिव का शरीर ही कहा गया है। वह इस जगत में कण-कण में अनुस्यूत है, वह अन्तर्यामी है। इसलिये यह जगत सत्य है। उसकी चित शक्ति ही अपनी स्वतंत्रता से इस विश्व की सृष्टि करती है जो सत् है। प्रत्यभिज्ञा हृदयम् में कहा गया है -

"चितिः स्वतंत्रता विश्वसिद्धि हेतुः।[88]

चिति की स्वतंत्रता ही इस विश्व के सिद्धि का हेतु है। इस चिति के प्रसार से ही जगत् का अस्तित्व एवं स्थिति होती है। जब इसका प्रसारण समाप्त हो जाता है, तब इस सृष्टि का संहार हो जाता हैं। यह प्रकाश रूपी चिति ही विश्वसिद्धि में हेतु है न कि माया इत्यादि कोई वस्तु। स्वच्छ और स्वतंत्र होने के कारण चिति ही नाना प्रकार के अनन्त जगत् के रूप में अभिव्यक्त होती है।

"स्वेच्छा स्वमित्तौ विश्वमुन्मीलयति"[89]

यह चिति अपनी ही इच्छा से अपने ही आधार पर इस विश्व को व्यक्त करती है। इसका अभिप्राय यह है कि अपनी ही इच्छा से बिना किसी साधन के अपने ही उपर इस विश्व को व्यक्त करती है। इस प्रकार शिव के विमर्श व्यापार से उसकी स्वेच्छा से ही इस जगत् की सृष्टि होती है, जो सत् रूप में स्वीकार किया गया है। इन दोनों दर्शनों में जगत् के संबंध में भेद यह है कि जहां अद्वैत वेदान्त में इस जगत् को मिथ्या माना गया है, वही इस जगत को कश्मीर ईश्वराद्वयवाद सत् मानता है, क्योंकि शिव से अभिन्न रूप में इस जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है। अद्वैत वेदान्त इस जगत् को ब्रह्म का आभास मानता है तो ईश्वराद्वयवाद जगत को शिव का प्रसार मानता है। जगत के सम्बन्ध में दोनों ही दर्शनों मे पारमार्थिक एवं व्यामहारिक दोनों ही दृष्टि से भेद देखा जाता है। जहां अद्वैत वेदान्त जगत् के पारमार्थिक स्वरूप को निरस्त मानता है, वहीं कश्मीर शैव दर्शन इस जगत् के अस्तित्व को स्वीकार करता है तथा सत् रूप में स्वीकार करता है। अतः पारमार्थिक रूप में अद्वैत वेदान्त जगत् को असत् तथा कश्मीर शैव अद्वैतवाद सत् रूप में

स्वीकार करता है। इसलिये दोनों दर्शनों में भेद पाया जाता है। इसलिए दोनों दर्शनों मे जगत् के स्वरूप के संबंध में अभेद की दृष्टि से भी भेद है तथा भेद की दृष्टि (व्यावहारिक) दृष्टि से भी भेद है।

अद्वैत वेदान्त माया को अनिर्वचनीय मानता है। माया न सत् है न असत् अपितु सद्सद्निर्वचनीय है। व्यावहाररिक दृष्टि से माया को सत् कहा गया है, क्योंकि इस जगत् का अनुभव होता हैं पारमार्थिक दृष्टि से माया को असत् कहा गया है क्योंकि यह है ही नही। इस प्रकार से एक दृष्टि से सत् तथा दूसरे दृष्टि से असत् होने के कारण माया को सद्सद्निर्वचनीय कहा गया है। इस सत् या असत् किसी भी रूप में निर्वचन करना, सम्भव नहीं है। माया की दो शक्तियां स्वीकार की जाती है :- आवरण और विक्षेप। आवरण के द्वारा माया ब्रह्म को आवरित कर लेती है, जिसे उसका वास्तविक स्वरूप ढक जाता है तथा विक्षेप के द्वारा वह इस जीव, जगत् की सृष्टि करती है तथा यह नाना प्रकार के नामरूपात्मक जगत् की सृष्टि हो जाती है। माया को समष्टि रूप में अज्ञान रूप ही माना गया है जबकि व्यष्टि रूप में अविद्या के अर्थ में जाना जाता है। समष्टि रूप में माया ब्रह्मतत्व का स्वरूप गोपन कर लेती है तथा व्यष्टि रूप में अविद्या आत्मत्व का स्वरूप गोपन कर लेती है।

कश्मीर शैव दर्शन में "माया" को अशुद्धाध्वा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है। इसमें महेश्वर का स्वरूप गोपन होता है। यह स्वरूप गोपन माया और उसके पञ्च कच्चुकोंके द्वारा होता है। माया का अर्थ यहां मापना या सीमित कर देने से लिया गया है। जो अहम् को इदम् से और इदम् को अहं से पृथक कर देती है। जो वस्तुओं को एक-दूसरे से भिन्न कर देती है वह माया है। माया के प्रभाव के "इदं" का अर्थ हो जाता है। "केवल यह" अन्य सब वस्तुओं से भिन्न एक परिमित वस्तु। यहीं माया के द्वारा पूर्ण संकोच या परिमितत्व प्रारम्भ हो जाता है। माया आत्मा पर एक आवरण डाल देती है और भेद बुद्धि उत्पन्न कर देती है। माया के पांच कञ्चुक निम्नलिखित है -

1. **कलाः**- शिव का स्वरूप गोपित होने पर, अणु बनने पर, जिसके द्वारा उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर किंचित कर्तृत्व में परिणत हो जाता है उसे कला कहते हैं।
2. **विद्याः**- जिससे परमेश्वर का सर्वज्ञत्व संकुचित होकर किंचित्ज्ञत्व में परिणत हो जाता है उसे विद्या कहते है।
3. **रागः**- जिससे परमेश्वर की पूर्ण तृप्ति संकुचित होकर किञ्चित् भोगों में आसक्त हो जाती है। उसे "राग" कहते हैं।

4. **कालः**- जिससे परमेश्वर का नित्यत्व संकुचित होकर भूत, भविष्य और वर्तमान में सीमित हो जाता है उसे काल कहते हैं।
5. **नियतिः**- जिससे परमेश्वर का स्वातन्त्र्य संकुचित होकर विशिष्ट कार्य में परिणत होकर

कारण का नियम धारण करता है और व्यापकत्व संकुचित होकर विशिष्ट देश में सीमित हो जाता है। इस प्रकार माया शिव का स्वरूप गोपन करके उसके सर्तकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णतृप्ति, नित्यत्व, स्वतन्त्र्य और व्यापकत्व को कञ्चुकों के द्वारा सीमित कर देती है। कश्मीर शैव दर्शन के 36 तत्व से में माया भी एक तत्व के रूप में स्वीकार की गयी है, जो शक्ति के संकोच के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में आती है तथा वह असीमित तत्व को सीमित तत्व के रूप में परिणत कर देती है। भेद बुद्धि का प्रादुर्भाव उसी के कारण होता है। अद्वैत वेदान्त और कश्मीर शैव अद्वैतवाद दोनों में ही माया के स्वरूप को स्वीकार किया गया है जो व्यावहारिक दृष्टि से भेद बुद्धि उत्पन्न करने एवं वास्तविक स्वरूप का गोपन करने के अर्थ में तो समान प्रतीत होते है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से दोनों में अन्तर आ जाता है। जहां एक तरफ अद्वैत वेदान्त में माया को असत् कहा गया है वही माया को कश्मीर शैव दर्शन में एक तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है जो शिव के विमर्श के पश्चात् शक्ति के संकोच के कारण अस्तित्व में आती है। यहां माया परमाशिव की सत् अभिव्यक्ति के अर्थ में देखा गया है। व्यावहारिक दृष्टि से ही सही, माया अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को सम्पूर्ण रूप से अवरित कर लेती है, परन्तु कश्मीर शैव दर्शन में शिव या परमेश्वर के स्वरूप गोपन के पश्चात् उसके पंच कञ्चुक महेश्वर के कुछ गुणों को ही आवरित करते है, जो पंच कंञ्चुक शिव के विशेष-विशेष गुणों को सीमित कर रहे हैं, जबकि अद्वैत वेदान्त की माया जिस ब्रह्म का आवरण करती है, वह निर्गुण है। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि माया की अवधारणा जो अद्वैत वेदान्त में दी गयी है वह पारमार्थिक रूप से असत् होते हुये कश्मीर शैव दर्शन के माया तत्व की अवधारणा से व्यापक प्रतीत होती है।

क्रियातत्व :- अद्वैत वेदान्त में क्रिया अविद्या या माया का कार्य है। ब्रह्म निष्क्रिय है वह ज्ञानमात्र है इसलिये उसमें किसी प्रकार की क्रिया असम्भव है। अद्वैत वेदान्त में क्रिया का प्रारम्भ होने का तात्पर्य इस जगत् की सृष्टि का होना है और यह तब तक नहीं हो सकता है, जब तक माया के द्वारा ब्रह्म का आवरण न किया जाय और माया विच्छेद के द्वारा इस जगत् को उत्पन्न न करें। इस क्रिया के द्वारा ही माया तत्व से इस जगत् की सृष्टि होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि क्रिया ब्रह्म में पहले से वर्तमान नहीं होती, बल्कि माया या अविद्या के द्वारा क्रिया

का प्रादुर्भाव होता है। इसके विपरित कश्मीर शैव दर्शन में महेश्वर में स्वातन्त्र्य के कारण कर्तृत्व को स्वीकार किया गया है। माया महेश्वर से कोई पृथक वस्तु नहीं है जिससे वह उपहित हो जाता है। यह माया महेश्वर की ही शक्ति है जिसके द्वारा नानात्व और मानता है। उसकी सर्वकर्तृव ही इस सम्पूर्ण जगत् के सृष्टि का कारण है। इसीलिये शिव के द्वारा इस जगत् की सृष्टि को सत् सृष्टि के रूप में स्वीकार किया जाता है। अद्वैत वेदान्त में कश्मीर शैव दर्शन की भांति क्रिया को सत् नहीं असत् स्वीकार किया जाता है, क्योंकि माया स्वयं पारमार्थिक दृष्टि से असत् है और असत् कारण से सत् कार्य की उत्पत्ति असम्भव है। अद्वैत वेदान्त में किया व्यावहारिक है तथा शिवतत्व में क्रिया पारमार्थिक तत्व है। सृष्टि के संबंध में तो अद्वैत वेदान्त एवं कश्मीर शैव ईश्वराद्वयवाद दोनों ही यह मानते हैं कि क्रिया के द्वारा ही इस जगत् की सृष्टि होती है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से अद्वैत वेदान्त में क्रिया असत् तथा कश्मीर शैव दर्शन में सत् स्वीकार की गयी है। अद्वैत वेदान्त में पारमार्थिक दृष्टि से क्रिया का अस्तित्व नहीं है, असत् है, जबकि कश्मीर शैव दर्शन में क्रिया परमार्थ से लेकर व्यवहार तक विद्यमान है, अन्तर केवल इतना है कि पारमार्थिक दृष्टि सर्वकर्तृत्व रूप है और व्यावहारिक दृष्टि से शक्ति के संकोच के कारण किञ्चित कर्तृत्व रूप है। इस प्रकार क्रिया के संबंध में दोनों दर्शनों में व्यावहारिक समानता होते हुये भी पारमार्थिक रूप में भिन्न दृष्टि अपनाये गये हैं।

अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को सत्य कहा गया है। वह ज्ञान मात्र है। वह आनन्द रूप है। ब्रह्म को "सच्चिदानन्द" कहा गया है। ब्रह्म निष्क्रिय रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, यह जगत् मिथ्या एवं जीव एवं ब्रह्म का पारमार्थिक अभेद है। इस जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन ब्रह्म के सत्य होने का परिचय देता है। ब्रह्म की सत्यता पारमार्थिक अनुभूति है, तार्किक व्याख्या नहीं। यह पारमार्थिक तत्व है, व्यवहारिक नहीं। अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म समस्त भेदो से परे है। उसमे किसी भी प्रकार का भेद (समजातिय विजातिय एवं स्वागत) स्वीकार नहीं किया गया है। इस प्रकार वेदान्त में आत्मा या ब्रह्म को ही तत्व माना गया है। आत्मा को ज्ञान रूप कहा गया है। उस आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ है, वह अनात्म है। आचार्यशंकर कहते है कि शान ही आत्मा का स्वरूप है। संवित चित, शान आदि आत्मा के ही अन्यनाम है। वह अद्वैत रूप है। उसका वर्णन उपनिषदों में नेति-नेति के द्वारा किया गया है उसका किसी विशेषण के द्वारा वर्णन सम्भव नहीं है। वह एक मात्र तत्व है। ब्रह्म को सत्यं ज्ञानं अनन्तम् कहा गया है। वह निर्गुण, विर्विकार, निरूपाधिक पारमार्थिक तत्व अद्वैत है। इसके विरीत कश्मीर शैव दर्शन में यद्यपि 36 तत्व स्वीकार किये हैं तथापि वह अद्वैतवादी दर्शन कहा जाता है। शिव और

शक्ति एक दूसरे से अभिन्न हैं। शिव तत्व और शक्ति तत्व एक ही परमेश्वर के दो रूप है। शिवतत्व प्रकाशरूप है और शक्ति तत्व विमर्शरूप है। प्रकाश का अर्थ ज्ञान या संवित् या चित है। विमर्श का अर्थ विश्व प्रकाश, विश्वाकार के द्वारा अकृत्रिम अहं का स्फुरण है। इसी को चैतन्य, स्वातन्त्र्य, कर्तृत्व स्फुरण, स्पन्द आदि भी कहते हैं। शिव चिद्रूप है किन्तु वह अचेतन है। शिव में चेतना शक्ति के कारण होती है। उसकी यह चेतना भी विमर्श है। इसमें अद्वैत पदार्थ शिव-शक्ति या परमाशिव है। अन्य तत्व उसके विमर्श व्यापार से प्रकट होते हैं। परमेश्वर की पांच शक्तियां है जिनको चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया कहा जाता है। इन पांच शक्तियों के द्वारा परमशिव आने को अपने ही उपर जगत् के रूप में व्यक्त करते हैं।

कश्मीर शैव दर्शन का ईश्वराद्वयवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से भिन्न है। शंकराचार्य ब्रह्म को चिन्मात्र मानते हैं। वे ब्रह्म को स्वतंत्र और कर्ता मानता है। शंकराचार्य निवर्तवाद को मानते है तथा कश्मीर शैव मत स्वातन्त्र्यवाद को मानता है। परमशिव स्वातन्त्र्य से अपने को प्रकाशित करते हैं। उनका यह स्वप्रकाश न तो विवर्तवाद है और न तो परिणामवाद। यह आभासवाद के कारण कश्मीर शैवमत जगत् को मिथ्या या अनिर्वचनीय नहीं मानता है। उसके अनुसार जगत सत्य है क्योंकि वह परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का विजृम्भरण है। शंकर के मत को कश्मीर शैवमत के आचार्यों ने असत्कल्प कहा है। उनके अनुसार शंकर के ब्रह्मवाद में द्वैतवाद छिपा हुआ है, क्योंकि उंसमें सत्य और मिथ्या की पृथक्-पृथक् व्यवस्था है। शंकराचार्य के इस छिपे अद्वैतवाद को हटाकर तिकदर्शन मे कट्टर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। किन्तु यह मत कहां तक ठीक है? इन प्रश्नों का उत्तर भावात्मक नहीं है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर अद्वैतवाद और त्रिकदर्शन का मूल अन्तर यह है कि अद्वैतवाद में आत्मा ज्ञान स्वरूप है और उसमें इच्छा का लेश भी नहीं है। इसके विरीत त्रिक दर्शन में आत्माज्ञान और इच्छा से सदा युक्त है। ज्ञान और इच्छा में अभेद है और दोनों को एक-दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार अद्वैतवाद एवं कश्मीर शैव अद्वैतवाद भिन्न-भिन्न मान्यताओं पर निर्भर है। यदि इन दोनों मान्यताओं को ठीक समझा जाय तो दोंनों दर्शन अपने-अपने स्थान पर ठीक हैं। किन्तु यदि इन दोनों मान्याओं पर पुनर्विचार किया जाय तो लगता हैं कि अद्वैतवाद की मान्यता में त्रिकदर्शन की मान्यता सें अधिक बल है। पहला कारण यह है कि ज्ञानमीमांसा की दृष्टि में ज्ञान व्यापार का कोई संबंध इच्छा व्यापार से नही है। दूसरा यह कि कश्मीर शैव दर्शन भी शिव शक्ति के संबंध की समस्या को मानते हुये भी शक्ति को मूलतः शिव कहता है और शिव को चिद्रूप मानता है। इससे यह स्पष्ट है कि एक ऐसी अवस्था है जिसमें आत्मा इच्छा शक्ति

या विमर्श से रहित है और उस अवस्था में वह केवल चित् या संवित् है। शंकराचार्य का दृष्टिकोण वस्तुतः यही है जो कश्मीर शैव दर्शन को भी मान्य होना चाहिये। इस अर्थ में अद्वैत वेदान्त का मत कश्मीर शैव दर्शन कें मत से वास्तव में श्रेष्ठ है, क्योंकि कश्मीर शैव अद्वैतवाद शिव के विमर्श से प्रारम्भ होता है और यह दर्शन उस अवस्था का चित्रण करता है जब शिव विमर्श नहीं करते हैं। यदि शिव बिना किसी प्रकाश्य वस्तु के प्रकाशित हो सकते है तो वे बिना विमर्श के भी रह सकते हैं उनकी वही अवस्था ब्रह्म की है जो अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म की अवधारणा है। इसी के अनुकूल शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है। अतः त्रिक दर्शन को अद्वैतवाद से श्रेष्ठतर कहना पक्षपात का परिचय देता है। वह भक्तिमार्ग के अनुसार है। तत्व मीमांसा में उसका कोई विशेष महत्व नहीं है। शंकराचार्य की तत्वमीमांसा कश्मीर शैव दर्शन के तत्वमीमांसा का भी आधार हैं अतः वह त्रिक दर्शन से श्रेष्ठ है। परमशिव को शिव शक्ति का सामरस्य कहना द्वैतवाद का पक्षपात है। उनका यह कहना की अद्वैतवाद में द्वैतवाद निहित है, तर्कतः असंगत है, क्योंकि अद्वैतवाद में माया तुच्छ होने के कारण ब्रह्म को छू तक नहीं सकती और कश्मीर शैव दर्शन में वह परमशिव का विमर्श होने के कारण परमशिव का संस्पर्श करती हैं। त्रिक दर्शन का अद्वयवाद केवल इस अर्थ में अद्वैतवाद है कि वह दो पृथक-पृथक तत्वों को नहीं मानता है। किन्तु वह शुद्ध अद्वैतवाद नहीं है, क्योंकि वह परमात्मा को द्विविध मानता है। उसके परमशिव में स्वगत भेद है। इस प्रकार हम देखते है कि अद्वैत वेदान्त की स्थिति कश्मीर शैव अद्वैतवाद से श्रेयस्कर है, क्योंकि शंकराचार्य का ब्रह्म समस्त भेदों से परे है जबकि कश्मीर शैव दर्शन में अद्वैत तत्व परमशिव में सर्वगत भेद के रूप में ज्ञान और इच्छा दो तत्व विद्यमान हैं और यदि विमर्शरूप परमशिव को उस विमर्श से रहित माना जायेगा तो वह अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म की ही स्थिति होगी। वस्तुतः क्रिया का सिद्धान्त ही आगम दर्शन का मौलिक सिद्धान्त है जो कि उसे अद्वैत वेदान्त से पृथक करता है। इस संबंध में उलेखनीय है कि यह क्रिया न तो नैतिक क्रिया है जो कि साभास तथा विकल्प युक्त होती है और न ही यांत्रिक क्रिया है जो कि सर्वथा निर्धारित होती है। यह स्वतंत्र क्रिया है, यह शुद्ध क्रिया है, यह स्पन्द या स्वाभाविक क्रिया है। यह शिव की लीला है, उसके आनन्द की अभिव्यक्ति है। इस क्रिया का ज्ञान से कोई, विरोध नहीं है। किन्तु अद्वैत वेदान्त के अनुसार पूर्ण सत्ता (ब्रह्म अथवा शिव) में कोई क्रिया नहीं हो सकता क्योंकि क्रिया के लिये लक्ष्य की आवश्यकता होती हैं और पूर्ण सत्ता का कोई लक्ष्य नहीं हो सकता है। कश्मीर शैव मत की कठिनाई यह है कि यदि क्रिया शिव तत्व का स्वतः स्पन्द है तो कब वह क्रिया होगी और कब नहीं होगी - इसका कोई संतोष जनक उत्तर नहीं है। इस प्रश्न को आगम शास्त्र यह कहकर टालने की चेष्टा करता है कि स्वयं ज्ञान ही क्रिया है किन्तु क्रिया के पुरूषतंत्र होने के कारण उसे ज्ञान से अभिन्न नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत वेदान्त में मोक्ष "अहं ब्रह्मास्यि" की अनुभूति है, जहां जीव ब्रह्म साक्षात्कार कर लेता है और अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। इस मोक्ष की अवस्था में जगत् निरस्त हो जाता है। क्योंकि सत्य का ज्ञान होते ही इस जगत् के मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाता है। इस अवस्था में जीव के लिये यह जगत् नहीं के समान ही होता है, क्योंकि उसकी इस जगत् से अनासक्ति इस जगत् को निरस्त कर देती है। इसके विरीत कश्मीर शैव दर्शन में मोक्ष की अवस्था में विश्व चेतना या अकृत्रिम अहं चेतना के रूप में प्रतीत होता है। इस दर्शन में जगत् निरस्त न होकर शिव के "अहं" रूप में प्रतीत होता है अर्थात् यह जगत् शिव की सत्य सृष्टि के रूप में प्रतीत होती है। इस प्रकार हम देखते है कि जहां अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवस्था में यह जगत् मिथ्यात्व का परिचायक है, वहीं कश्मीर शैव दर्शन में यह जगत् शिवमय प्रतीत होता है, अर्थात् यह सत् रूप में भासित होता है। इसलिये मोक्ष की अवस्था में जो अनुभूति है यह दोनों दर्शनों में भिन्न-भिन्न रूप में स्वीकार किया गया है। जहां अद्वैत वेदान्त में मोक्षावस्था में यह जगत् निरस्त रहता है, वहीं कश्मीर शैव दर्शन में यह जगत् मोक्षावस्था में शिवमय के रूप में अनुभूत होता है।

अद्वैत वेदान्त में अविद्या, जो माया का व्यष्टि रूप है, विद्या के द्वारा निरस्त हो जाती हैं और तब मुक्ति लाभ होता है और इस विद्या की प्राप्ति श्रवण, मनन और निदृध्यासन के द्वारा होती है। ये मोक्ष के साधन है अविद्या के निरस्त होते ही साधक को अपने वास्तविक स्वरूप आत्मतत्व का ज्ञान हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है। इस मुक्ति मार्ग को ज्ञान मार्ग कहा जाता है जहां साधक को अपने आत्मतत्व का ज्ञान हो जाता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ"। कश्मीर शैव दर्शन में अज्ञान के दो प्रकार किये गये है - बोद्ध अज्ञान और पौरूष अज्ञान। बौद्ध अज्ञान बुद्धिगत है। पौरूष अज्ञान स्वरूपगत है। इस कश्मीर शैव दर्शन में बौद्ध अज्ञान तो विद्या से निरस्त हो जात है परन्तु पौरूष अज्ञान शेष रह जाता है। उसे शिवत्व लाभ नहीं हो सकता है। इसलिये पौरूष अज्ञान केवल शक्तिपात के द्वारा ही अपसारित हो सकता है। यह शक्तिपात या तो सिद्ध गुरू के द्वारा या साक्षात शिव के अनुग्रह से ही हो सकता है। जब भगवदनुग्रह साधक पर हो जाता है तब यह पौरूष अज्ञान निरस्त हो जाता है और उस साधक को यह विश्व शिवमय ही प्रतीत होने लगता है। अद्वैत वेदान्त और कश्मीर शैव दर्शन दोनों में अज्ञान के स्वरूप में भिन्नता है। जहां एक तरफ अद्वैत वेदान्त में अज्ञान ज्ञान से निरस्त हो जाता है। तथा साधक मुक्त हो जाता हैं वहीं कश्मीर ईश्वराद्वयवाद में साधक को ज्ञान से बौद्ध अज्ञान तो निरस्त हो जाता है, किन्तु पौरूष अज्ञान का निरसन तब तक नहीं होता है जब तक

कि उसे परम शिव का अनुग्रह या सिद्ध शुरू का अनुग्रह प्राप्त न हो। अतः अद्वैत वेदान्त में एवं कश्मीर शैव अद्वैतवाद में ज्ञान के प्रकार में मतभेद है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि उपर्युक्त दोनों अद्वैतवाद विचार धाराओं को वस्तुतः एक दूसरे का विरोधी नहीं समझना चाहिये। दोनों अद्वैतवाद का प्रतिपादन अपने-अपने तर्कों के आधार पर करते है और दोनों का अन्तिम प्रयोजन मनुष्य की मुक्ति है जो कि उसे अपने ब्रह्म रूप या शिव रूप का बोध होने पर होती है। कश्मीर शैव मत के अनुसार या स्वरूप बोध प्रत्यभिज्ञा है। जब जीव को अपने स्वरूप का बोध हो जाता है तब वह शेष जगत् प्रपंच से अपने को पृथक कर लेता है, अद्वैत वेदान्त के अनुसार अनात्म से अपने को असंबद्ध करके (क्योंकि अनात्म् असत् है) जीव अपने ब्रह्म स्वरूप का साक्षात्कार करता है। अतएव ये दोनों विचार धारायें अद्वैतवाद की दो उत्कृष्ट विचार धाराये हैं। तार्किक दृष्टि से उनमें मतभेदों तथा त्रुटियों का प्रदर्शन किया जा सकता है। किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से किस का उद्देश्य तार्किक श्रेष्ठता स्थापित करना नहीं है। दोनों अध्यात्म के दो मार्ग हैं और दोनों ही मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। रूचि और अधिकार के अनुसार मनुष्य इनमें से किसी का चुनाव करके आत्म-कल्याण की ओर प्रवृत्त हो सकता है।

सन्दर्भ

1. तन्त्रालोक 6.4.5.
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - डा0 संगम लाल पाण्डेय
3. तन्त्रालोक : 66
4. शिवपुराण - 43 श्लोक 29
5. शिवपुराण वायु सं0 6 अ
6. तंत्रसार - 8 आ0 71 पृ0
7. शट्त्रित् तत्व सन्दोह - पृ0- 1, श्लोक 1
8. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 1
9. प्रत्यभिज्ञा हृदयम - सूत्र - 2
10. प्रत्यभिज्ञा हृदयम - सूत्र - 3
11. प्रत्यभिज्ञा हृदयम- सूत्र 4
12. त्रिशिरोमत
13. प्रत्यभिज्ञा हृदयम - सूत्र 5
14. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा - उत्पलदेव - 1,4,3
15. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 6
16. -वही- सू. - 7
17. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र 8
18. स्वच्छन्द तंत्र - 10वे पटल, लोक 1141
19. नेत्रतंत्र - 8वें पटल श्लोक 30
20. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 9
21. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 10
22. स्वच्छन्द तंत्र प्रमि पटल - श्लोक - 3
23. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 11
24. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 12.
25. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा टीका
26. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 13
27. -वही - - 14

28. शिव स्तोत्र - 20, 17 उत्पलद्रेव
29. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 15
30. -वही- - 16
31. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 31
32. -वही - -18
33. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 19
34. -वही- -20
35. अजड़ प्रभातृसिि; - उत्पलदेव - श्लोक - 22, 23
36. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ज्ञानाधिकरण, 7 आ0 1
37. स्पन्दकारिका पथम सूत्र - 1
38. शि0 पु0 वा0 सं0 6 आ0
39. तन्त्रलोक - 3, 100. लोक
40. महार्ययज्जरी - महेश्वरानन्द - पृ0 40
41. छान्दोग्योपनिषद 6/2/1-3
42. ई0 प्र0 वि0 1, पृ0 20, 3-4
43. ई0 प्र0 वि0 वि0 पृ0 9
44. परमार्थ सार - योगराज द्वारा उद्‌धृत पृ0 39
45. ई0 प्र0 वि0 पृ0 185
46. स्वच्छन्द तन्त्र - 271
47. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा - 1, 5, 14
48. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, 1, 3, 13
49. तंत्रालोक, 4, 184
50. तंत्रसार - पृष्ठ संख्या - 75
51. तन्त्रोलोक 4, 147
52. शिवसूत्र विमर्शिनी - पृ0 89
53. तंत्रसार - पृष्ठ - 6
54. तं0 वि0, 9, 151
55. स्पन्दकासिका - सूत्र - 1
56. स्पन्द निर्णय - पृ0 - 8
57. स्पन्दकारिका - सूत्र - 46
58. स्पन्दकारिका सूत्र - 47
59. -वही- - 48
60. भारतीय संस्कृति और साधना, पृ0 38
61. शिवसूत्र वार्तिक - 18
62. शिवसूत्र विमर्शिनी
63. शिव पुराण
64. शिव सूत्र विमर्शिणी
65. शिवछवि - सोमानन्द - 3/2/3
66. शैव दर्शन तत्व - व्याप्ति और मान्यता - आचार्य भारतीय - पृ0 210
67. तंत्रसार - 4 आ0 28-30 तक
68. शि0 सू0 वा0 13 सूत्र पृ0 -15
69. काली विलास तंत्र - 11 पटल 3 श्लोक
70. स्पन्दकारिका - सूत्र - 18
71. तन्त्रलोक - 10, 258, 59
72. पराप्रवेशिका - क्षेमराज
73. पराप्रवेशिका में क्षेमराज द्वारा उदृत
74. महार्थमज्जरी - महेश्वरानन्द - पृ0 - 25
75. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 1:61
76. तं0 आ0 2, पृ0 192
77. दे0 प्र0 हृदयम सूत्र - 13
78. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - 17
79. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 18
80. महार्थयञ्जरी - महेश्वरानन्द - पृ0 25
81. स्पन्दकारिका - सूत्र - 9
82. शिव सूत्र - 1 - 2
83. स्पन्दकारिका - सूत्र - 10
84. स्पन्दकारिका - सूत्र - 11
85. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 9
86. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
87. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 1
88. प्रत्यभिज्ञा हृदयम् - सूत्र - 2

सत्यम पब्लिशिंग हाउस
N-3/25, मोहन गार्डन, नई दिल्ली -110059
Ph. : 25358642